वैखानस सिध्दान्त और सम्प्रदाय

व्दितीय भाग

रचयिताः
दे. सत्यनारायण

मरीचि ग्रन्थमाला
श्री वैखानस दिव्य सिध्दान्त विवर्धिनी सभा
तिरुमल
२००२



श्री विखनस आश्रमम्, तिरुमल,

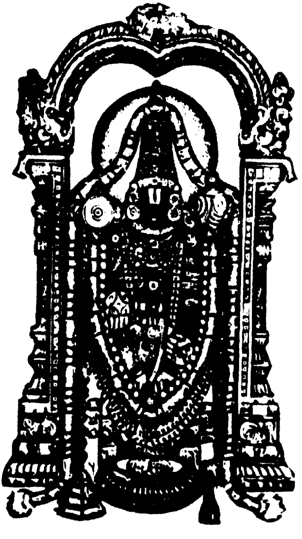
श्री वैखानस दिव्य सिध्दान्त विवर्धिनी सभा

वैखानस सिध्दान्त और सम्प्रदाय

व्दितीय भाग

रचयिताः

दे. सत्यनारायण



मरीचि ग्रन्थमाला

श्री वैखानस दिव्य सिध्दान्त विवर्धिनी सभा

तिरुमल

२००२

मरीचि ग्रन्थमाला संख्या : २२.

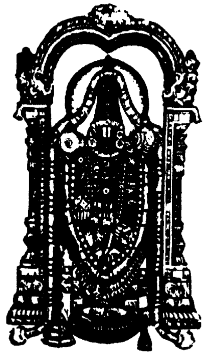
प्रधान सम्पादक :

दीवि श्रीनिवास दीक्षित्

श्री वैखानस दिव्य सिध्दान्त विवर्धिनी सभा

तिरुमल

२००२



This book is published with the Financial Assistance of
TIRUMALA TIRUPATHI DEVASTHANAMS, TIRUPATI.

मरीचि ग्रन्थमाला संख्या : १२.

प्रतियां - १,०००.

मूल्य : पचास रुपये.

Copies can be had from :
THE SECRETARY,
S.V.D.S.V. Sabha,
Sri Vikhanasa Ashramam,
Ring Road, TIRUMALA.(A.P.)
Pin : 517504.

Copies can be had from :
SRI VAIKHANASA SAMAJAM,
A2, Dee-Vee Apartments,
Navodaya Colony,
VIJAYAWADA.(A.P.)
Pin : 520 010.

डि.टि.पि. ✆ : 30807.
श्री सत्यसाई ग्राफिक्स,
के.टि.रोड, तिरुपति.

Printers : ✆ : 435393
THE VANI PRESS,
VIJAYAWADA.

Foreward

The second part of the Vaikhanasa Siddhantha and Sampradaya is now in the hands of the readers. As the title states the book with the Siddhantha and the Sampradaya of Sri Vaikhanasas i.e., the basic priciples of the Philosophy of the Vaikhanasa sect and Sampradaya the institutions that have been created to propagate the religion and the institutions that help to foster the religious functions of the sect.

The second part has five chapters, the 6th Chapter deals with the religious institutions pooja and the necessary details sectarian and comparative , the 7th Chapter deals with the Vaikhanasa Society, the institution that created to safeguards the character of the society, structure of the society, the marriage, education and goal of life, activities to achieve the same - incidentally the use of metals, jewels, the concepts of ornamentation of the utensils of daily use as also the facilitating pots in the process of pooja are also enumerated. The 8th Chapter has two topics, the Idol and the Temple. History of Idol worship, Idol as a symbol of reverence and bestower of Grace, the history of Idol worship in India, its ramifications, temple its place in the Society impact on the human society and how it develop a human being into a more human soul. The 9th Chapter deals with Kriyayoga and instrumentality of Yoga system and deviation from the classical yoga system of Patanjali. The 10th Chapter gives summary of the contribution of the Vaikhanasa as a philosophy, religion and the society in the wider Indian Context.

The comparative study of social structure as given in Manu and Vaikhanasa system, the comparative study of the Yoga system and the Yoga principles as presented in Marichi are given to elaborate the religious functions of the same and special contibution of the Sect to the world literature on religious practices.

We thank the Author Sri Devarakonda Sathyanarayana Garu for the labours he undertook in writing the book giving the

institutions developed by the Vaikhanasa Sect and in turn the institutions thus developed help the Vaikahnasa Sampradaya to develop. There is much material available in Vaikhanasa literature on architecture, sculpture, Iconography and allied topics and much material on puja, its contents, serial order, the number of such actions, the relationship of such actions and other topics important for puja ceremony.

During the printing of the book our Sabha Secretary late Sri D.Vikhanasa Charyulu expired before he could see the printed book. We regret his demise.

We are very greatful to the T.T.D. authorities in particular to the Executive Officer, Dr. P.Krishnaiah, I.A.S., as well Dr. I.V. Subbarao, I.A.S. who took interest in this publication. We appreciate the efforts of Dr. N.S.Rama Murthy, the Editor, T.T.D Publications.

We are thankful to Sri G.Prabhakara Charyulu for his untiring and enthusiastic assistance in this project which has a special contribution to the religious literature of India. So far known only to the followers of the Vaikhanasa Sect now in Hindi will help particularlythe North Indians for whom it is primarily intended.

We are thankful to Sri Vaikhanasa Samajam, Vijayawada for their consistent and continued help and assistance in the publication of the Vaikhanasa Literature.

We are thankful to Sri Sathya Sai Graphics, Tirupathi for D.T.P. execution neatly and qualitative style and M/S. Vani Press, Vijayawada for printing this bopok, nicely and in time.

Tirumala
Date :22nd Aug 2002.

D.S. Deekshitulu,
SECRETARY,
S.V.D.S.V. Sabha,
Tirumala.

॥ श्रीः ॥

श्रीमदाचार्यविंशतिः

अथ नैमिशभूविभूषणं मुनिसन्दोहमहप्रवर्धनम् ।
मम लोचनगोचरीभवत्वखिलाचार्य तवाद्भुतं वपुः ॥ १ ॥

कुशसंस्तरवर्ति रौरवाजिनसम्भावितपद्मकासनम् ।
उपकण्ठलसत्कमण्डलु ज्वलितं ब्रह्ममयेन तेजसा ॥ २ ॥

नखरप्रतिबिम्बितानतत्रिदशश्रेणिविशेषशोभिना ।
जगदुद्धरणोरुविक्रमक्रमवत्पादयुगेन शोभितम् ॥ ३ ॥

अधिकायतबाहुकन्दलीमृदुलस्पर्शसुखं समीयुषा ।
कनकच्छविना बलीयसा महता जानुयुगेन लक्षितम् ॥ ४ ॥

करिहस्तमनोहराकृतिं स्विकया मुग्धरुचाऽवजानता ।
क्रमवृत्तकृशेन मांसलस्फुरदूरुद्वितयेन योजितम् ॥ ५ ॥

परिणद्धमहार्घविस्फुरद्घनपीताम्बरकान्तिशोभिना ।
रथचक्रविशालमञ्जुना कटिभागेन समुत्कटश्रियम् ॥ ६ ॥

सदसद्विशयार्थचुम्बिना स्मरनाराचसमानजन्मना ।
उदरेण परिष्कृतं श्रुतिस्मृतिजाताधिकभारवाहिना ॥ ७ ॥

नियतोर्ध्वविसारिसद्घृणारसरोचिर्नतरोमराजिकम् ।
घुसरिद्भ्रमविभ्रमास्पदस्थितिमद्गह्वरनिम्ननाभिकम् ॥ ८ ॥

जगदुद्भववृत्तिसंहृतिक्षमनारायणभव्यधर्मणा ।
सतताध्युषितेन योजितं हृदयेन स्वगुणैरहापितैः ॥ ९ ॥

सदृशेन पयोधिकन्यकाकमितुर्भव्यविहारसङ्गतेः ।
फणितल्परुचिं विलुम्पता परिघाऽपीवरवक्षसाऽन्वितम् ॥ १० ॥

कलधौतमयप्रविस्फुरद्दलितान्तस्तिमिरोपवीतवत् ।
तुलसीपरिवासितं लसद्वनमालामणिहारराजितम् ॥ ११ ॥

वरदानचणाभयादराम्बुजदण्डत्रयमञ्जुदर्शनैः ।
प्रणताहितपश्यतोहरैः युगसङ्ख्यैरुपलक्षितं करैः ॥ १२ ॥

करुणारसपुष्टकन्धरं करिदन्ताभकपोलमण्डलम् ।
अरुणाधरमञ्चितं दृढैः समतिग्मैरतिशोभनैः रदैः ॥ १३ ॥

अभिराममपास्तदोषया सततं रेचकपूरकादिभिः ।
सुमनोवरचित्तचोरया कमनीयाकृतिभासिनासया ॥ १४ ॥

भुजगाभभुजाग्रनर्तनस्मयवत्कुण्डलमण्डितश्रुति ।
समयोन्मिषिताम्बुजच्छदप्रतिमासेचनकायतेक्षणम् ॥ १५ ॥

स्तिमितासितपक्ष्म भास्वरारुणनेत्रान्तविनीलतारकम् ।
पृथुकूर्चकपार्श्वविस्फुरत्कुटिलभ्रूलतिकाविराजितम् ॥ १६ ॥

निशया परिशोभितान्तरस्थलदीव्यद्धवलोर्ध्वपुण्ड्रकम् ।
सुविशालललाटसुन्दरं शरदिन्दुद्युतितस्कराननम् ॥ १७ ॥

मुनिमण्डलसार्वभौमतां सहसा व्यञ्जयता निरङ्कुशाम् ।
मुनिवेषविलक्षणेन सन्मकुटेन ज्वलितेन भूषितम् ॥ १८ ॥

वपुरित्थमुपघ्नतां भजत्तव देवावतु मामनारतम् ।
अशुचिं श्रुतवृत्तदुर्विधं भगवन्निग्रहपात्रमर्भकम् ॥ १९ ॥

अभवाय मनोभवाय ते जलजातोदरसम्भवाय च ।
जगतां प्रभवाय साक्षिणे विखनस्ते भगवन् नमो नमः ॥२०॥

पार्थसारथिः

अध्याय छह

धर्म और दर्शन

धर्म मानवीय अनुभव है। अन्य शास्त्रों के समान तर्क की सीमा में नियन्त्रित किया जा सकता है इस पर भारत में मतैक्य नहीं है। यह अनुभव इन्द्रियातीत है अतः भौतिक वस्तुओं पर लागू नियम अतीन्द्रिय क्षेत्र में प्रवृत्त नहीं हो सकते।

दर्शन ज्ञान का या ज्ञान की प्राप्ति का पर्याय है। ज्ञान का अर्थ इन्द्रियद्वारा प्राप्त ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान दोनों हैं। दर्शन वस्तुओं के तर्क संगत निर्धारण और इन पदार्थों के बीच स्थित सम्बन्ध को व्यक्त करता है। ज्ञानार्जन या ज्ञान प्रक्रियाकी पद्धति का विश्लेषण और ज्ञान के स्वरूप का निर्धारण है।

धर्म हृदय को सन्तोष देता है जबकि दर्शन बुद्धि को. परमसत्य की खोज उभयत्र अभिप्रेत है।

मानव अनुभव लौकिक और अलौकिक सभी अवस्थाओं में तर्कसंगत हो ऐसा नहीं है। अर्तात् ज्ञात तर्क के नियमों का समस्त अनुभवों में अव्यभिचरित रूप से प्रयोग या प्रक्रिया युक्त हो ऐसा नहीं है। सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया और गणितीय प्रक्रिया में लौकिकज्ञान-सम्पादन में भी अन्तर है। इस अर्थ में हृदय का तर्क और बुद्धिका तर्क ऐसी दो विभिन्न प्रणालियों को मानना होगा।

मोक्षप्राप्ति श्रेष्ठ है यह धर्मका विषय है क्यों श्रेष्ठ है यह बताना दर्शन का काम है। परमपुरुषार्थ अन्य पुरुषार्थों से क्यों श्रेयस्कर है यह दर्शन बतायेगा। श्रेयस् का अर्थ क्या है इसके प्रति प्रयत्न क्यों करना चाहिए यह दर्शन बतायेगा। दिव्य अनुभव से परम आनन्द की प्राप्ति होती हैं अतः प्रयत्न करना धर्म का विषय है।

दर्शन स्व-अनुभव है। पर जब हम किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से जुड जाते हैं त। :स सम्प्रदाय की परम्परा, मान्यतायें आचार्य विरचित ग्रन्थ ये सब धर्म में (कृत्य) समाविष्ट हो जाते हैं। स्व-अनुभव नहीं है पर स्वानुभव की प्रक्रिया को उद्दीप्त और उत्तेजित करते हैं अतः मुख्य धर्म न होने पर गौण धर्म अवश्य हैं। धर्मों का मानना है कि संस्कार (दृढीकृत या ध्रुवीकृत) दीक्षा कर्मकाण्ड (स्व सम्प्रदाय सम्मोदित) तथा अनेक उपचार जैसे धर्मप्रवचन-उत्सव-गुरु जयंती आदि भी धर्म के सहकारी अंग है इनसे धर्मानुभव में सहायता मिलती है। जब एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय का खण्डन करता

है तो यह खण्डन मण्डन इन्हीं सहकारी अंगों का होता है क्यों कि ये अंग प्रायः लौकिक इन्द्रियग्राह्य प्रधान होतें हैं अतः तर्क की भाषा में इन्हें कसा और परखा जा सकता हैं। मूल दिव्यानुभव तर्क के परे है। स्वसम्प्रदाय वाले लोग इन अंगों की उपयोगिता भी तर्क के बल पर करते हैं।

धर्म परमसत् है ऐसा नहीं है। धर्म तो सत् की व्याख्या प्रस्तुत करता है। धर्म एक प्रकार का अनुभव है जो अन्य प्रकार के अनुभवों से पृथक् जाति का है। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, ब्रह्मा ही सत्य है, ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या और ब्रह्मका स्वरुप सत्य ज्ञान और अनन्त है। वही परमसत्य है परमज्ञान है और वह अनन्त है। यह अनुभव मूल धर्म है इस की व्याख्या भी धर्म है। अनुभव अलग पदार्थ है। अनुभव का वर्णन अलग पदार्थ है और उस वर्णन का तर्क संगत ब्योरा अलग। अनेक धर्मों के अनुयायियों का यह मानना कि उनका धर्म अधिक अच्छा या अधिक सच्चा है इस बात के लिए उनका प्रयत्न है कि उनका धर्म परमसत्य के अधिक समीप है। दिव्यानुभव का सरलतर उपाय है। सत्य के अर्थ की बौद्धिक अभिव्यक्ति का सरल उपाय हो या अर्थ ग्रहण सामर्थ्य को सुलभ किया हो पर यह सब तो कर्मकाण्ड से ही सम्भव है और कर्मकाण्ड भौतिक वस्तु भौतिक शब्द या अन्य नश्वर प्रतीक के उपयोग से ही सम्भव है। प्रणव जप या कुरान की आयतों का पाठ भी भौतिक वस्तुका उपयोग ही है और उस पर तर्क संगत हैने का मापदण्ड अधिक्षिप्त किया जा सकता है। प्रायः परम तत्त्व को अनुभव का विषय मानकर उस पर तर्कारूढ नहीं हुआ जाता है पर परमतत्त्व का अर्थ क्या है, अभिधेय क्या है इस पर विचार वैभिन्य उपस्थित होता है। इस वैभिन्य के कारण उपस्थित होता है, विश्व का गठन सृष्टिका प्रयोजन, उसमें मानव का स्थान और वह परम प्राप्तव्य। हिततम क्या है यह प्रश्न सारे समाजों में विचारणीय प्रश्न है। मानव नियति पर सबका एक मत नहीं है। वैष्णवों के भगवान भक्त की पुकार पर भक्त की रक्षा के लिए दौड पडते हैं। पर निर्गुण ब्रह्म? जो धर्म ईश्वर को ही नहीं मानते लोकायत, आजीवक आज साम्यवादी इनके ईश्वर क्या भक्त की रक्षा का ध्यान रख सकते हैं जब कि उनकी सत्ता पर ही प्रश्न चिह्न लगा है। उनका सुख भौतिक सुख है इन्द्रियाह्लाद अवसानात्मक है। मानव में एक दिव्यांश है इस तथ्य को वे स्वीकार नहीं करते। यही उनका परम पुरुषार्थ है चरम प्राप्तव्य है। एक मानव नियति है--उसके लिए पुरुष प्रयत्न मानव मात्र का कर्तव्य है ऐसा वे नहीं मानते।

मानव व्यहार में प्रतिफलित धार्मिक तत्त्व का विचार किया जा सकता है। इसमें

नैतिक आचरण वर्णाश्रम धर्म स्मृतियों में निर्दिष्ट आचार विचार के नियम सब सम्मिलित है। उन सबके आचरण से क्या मूल मानविक स्वभाव में कोई स्पष्ट दीखने वाला लक्षण प्रतिफल दृष्टिगोचर होता है। क्या सदाचारी मानव वर्ग कदाचारी मानव वर्ग की अपेक्षा मानव नियति के प्रति अधिक प्रयत्नशील है। और परम सत्य की प्राप्ति की दिशा में ऐसा आचार सहकृत व्यक्ति क्या अधिक समीप है?

दर्शन तत्त्व व्यख्या का एक प्रस्थान नहीं माना जा सकता। दर्शन की भी अपनी कोटियां हैं. बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन आदि नाम प्रसिद्ध ही हैं पञ्चावयव वाक्य, सप्तभंगीनय सौत्रान्तिक या वैभाषिक अतः यह आवश्यक है कि हर सम्प्रदाय के मूल तत्त्वों का पुनः पुनः अवलोकन हो, आलोचना हो मानव नियति में उपकारक हैं कि नहीं इस पर विचार किया जाय परमश्रेयस् क्या है उसकी प्राप्तिके उपाय कहां तक तर्क संगत हैं उस केलिए मानवमात्रका प्रयत्न सापेक्ष है। क्यों कि शब्द से अर्थ तक की यात्रा में अनेक विध उपसम्प्रदाय बन गये हैं। हीनयान-महायान वडकलै-तेनकलै इसके उदाहरण है। प्रोटेस्टेण्ट-रोमनकेथोलिक।

वेद में कहीं भी सौरशाक्त वैष्णव शब्द सम्प्रदायिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हैं। सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायः कुसुमाञ्जलि में वर्धमानोपाध्याय की टीका में सम्प्रदाय पद की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है। एतावता शैव शाक्त सम्प्रदाय परक अर्थ नहीं प्राप्त होता। वैसे शकराचार्य ने भी अपने बृहदारण्योपनिषद भाष्य में-नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशर्षिम्यो नमो गुरुभ्यः कहा है। यहां सम्प्रदाय का अर्थ शैवशाक्तदिसम्प्रदाय बिल्कुल नहीं हो सकता।

धर्म को देखने के नानाविध प्रयत्न हो सकते हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में काल खण्ड में किसी धर्म विशेषकी क्या और किस दिशा में प्रगति हुई? धर्म ने अन्य संस्थाओं को (उसी समाज की) प्रभावित किया है? धर्म ने राजनीति, अर्थनीति के क्षेत्र में सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में क्या योगदान दिया है?

सामाजिक दृष्टिकोणसे धर्म की परख सामाजिक मूल्यों के निर्धारण तथा ध्रुवीकरण है। एक परममूल्य-जिसको धार्मिक विश्वास भी कह सकते हैं समाज को एक जुट होने में सहायता करता है। समाज की संरचना तथा संगठन धार्मिक क्रिया और प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है जैसे धार्मिक विश्वास समस्त जन का समान होने पर भी धर्मिक कृत्यों का सामर्थ्य और स्वातन्त्र्य सबका समान नहीं हो सकता है।

मनो वैज्ञानिक दृष्टि से धर्म की परीक्षा करनेवाले धार्मिक विश्वास के आधार की समीक्षा करते हैं। आत्म-परिशीलन की दिशा विशेष की और तत्त्वमसि या दासोऽहं की मानसिक वृत्ति की परिनिष्कृति की सम्भावना की निर्मिति पर जोर देते हैं।

मानव केवल तर्काश्रित प्राणीमात्र नहीं है। इसकी चिन्तन पद्धति तर्क, भाव (कामक्रोधादि), इच्छा, शारीरक आवश्यकता, मानसिक अनिवार्यतायें धार्मिक श्रद्धा आदि के समन्वित सामर्थ्य से संचालि होती है। सबसे अधिक समर्पित भावना अनिवार्यता जिस विचार-विशेष या अनिवार्यता से हो वही प्रधान होता है।

व्यक्ति ब्रह्मात्मैक्य के क्षणों में अनन्य हो जाता है और उसकी खुदी मिट जाती है तो ब्रह्म का लक्षण उसमें भी फूट पडता है।सोऽकामयत् बहुस्यामिति वह संसार में आनन्दानुभव के क्षणों के पश्चात् पुनः प्रविष्ट होता है। सबको अपने अनुभव का ज्ञान कराता है जैसे गौतम ने बुद्धत्व प्रप्ति के बाद किया। कभी संगति के माध्यमसे, कभी मुद्रा के माध्यमसे, कभी अन्य किसी प्रतीक द्वारा।

यह अनुभव व्यक्तिगत नहीं होता। खुदी खोने परही उसे परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है या सामूहिक जातिगत अनुभवको प्राप्त करता है, अतः उस अनुभव को बांटना अत्यन्त आवश्यक है अथवा स्तेन एव सः गीता की उक्ति चरितार्थ होगी। यह हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के करणों को स्वच्छ करता है। मलिनता मिटाता है।

मनोदैहिक व्यक्ति एवं आत्मा के बीच एक अपारदर्शी व्यवधान रहता है— एक परदा रहता है उसको पारदर्शी बनाना ही भक्त की योग्यता है। उस मलिनता को दूर कर स्वयंप्रभ बनाने का सामर्थ्य उसी को है। उस आकुञ्चन-शक्ति को जो परम तत्त्व को हमसे छिपाती है। उस आवरण शक्तिको हमसे हटाना ही उसका काम है।

यह परदा क्या है? यह आवरण विक्षेप क्या है? हम वासनासे जकडे हैं। किसीभीं पदार्थको उसके निज स्वरुपमें हम नहीं देखते हैं। वासना से प्रभावित इन्द्रियों द्वारा देखनेके हम आदि हे गये हैं। लोभमोह हमको एक रंगीन चश्मा पहना देता है तब हम प्रत्येक दृश्यको हमारे लिए कितना उपयोगी है हमारे स्वार्थकी पूर्ति इसके द्वारा किस हद तक हाती है इस मापदण्डसे ही वस्तुका आकलन करते हैं।

शायद दर्शन और अनुभव पद का एकही अर्थ है। दर्शनका अर्थ है झांकना। निश्चय ही यह नयनेन्द्रिय का व्यापार नहीं है। यह तो आत्मिक अनुभव है। इसी अर्थमें दर्शन और अनुभव पर्यायपद हो सकते हैं। क्या आत्मिक अनुभव मिथ्या हो सकता है?

क्या यहां मिथ्या या भ्रमका अवकाश है? क्या अनुभव, अनुभवजन्य ज्ञान नहीं? बाधित हो सकता है? तब शायद सत्य या अवाञ्छित परम सत्य की परिभाषा करनी पडेगी जो स्वयं अबाधित हो।

धार्मिक ज्ञार्न स्वयंसिद्ध है। धर्म श्रद्धा पर आधारित है। जैसे भौतिक वस्तुओं का ज्ञान नयनेन्द्रिय सम्पादित करता है वैसे ही आत्मिक अनुभव आत्मा के बल से सम्पन्न होता है। यहां अर्थक्रियाकारित्व का मान लागू नहीं होता क्यों कि आत्मिक अनुभव दोहराया नहीं जी सकता। अतः गलत होने का सवाल ही पैदा नहीं होता। तब क्या इस अनुभवको तर्ककी कसौटी पर कसा जा सकता? बिल्कुल नहीं। श्रद्धा अपने आपमें ज्ञानका कारण है। स्वतः सिद्ध धार्मिक अनुभवका दर्शनकी तर्क-पद्धति द्वारा सत्यनिर्धारण व्यर्थ है। प्रयोजन हीन है। तर्क और अनुभव मानवके दो पृथक् क्षेत्रहै और दोनों अपने अपने क्षेत्र में ही काम कर सकते हैं। किसी एक प्रक्रिया को अधिक विश्वसनीय नहीं बनाया जा सकता जलयान जलमें, भूतल परिवहन भूतल पर ही कार्यकर है अन्यथा नहीं।

भारत की साम्प्रदायिक विविदता का आधार यही इसी धार्मिक अनुभवका सत्य होना है। प्रबन्धम् तामिल में हैं और आल्वारों के धार्मिक अनुभव में किसी को सन्देह नहीं है। गुरु ग्रन्थसाहब पञ्जाबी में है और सिक्ख धर्म जीवन्त धर्म है। दादू कबूर पन्थके मूलग्रन्थ प्रादेशिक भाषा में ही है। आसामका महापुरुखिया धर्मग्रन्थ असमिया में ही है एतावता वेदों की महत्ता कम नहीं हुई। वेदों में ऋषियों का अनुभव उट्टंकित है और उसके गलत होने का सवाल ही नहीं उठता। वेद खजाना है धार्मिक अनुभवका। अतः जो अनुभव (धार्मिक) इन भाषाई सन्तों ने प्राप्तकर अपने सम्प्रदाय की पुष्टिकी वे सारे के सारे अनुभव वेद में प्राप्त हैं। अतः वेदको विश्वतोमुख कहते हैं। अनुभव की किरण हर दिशा में फैली है और किसी भी किरण से प्रकाश प्राप्त है। यही विश्वतोमुखता है। अतः वेद नित्य है और भारत तथा इतर देशो में अनेक सहस्राब्दियों के पश्चात् भी सार्वजनीन श्रद्धाके भाजन हैं।

ईश्वर अनन्त हैं। अनन्त कल्याण गुणों से युक्त हैं। इसका अर्थ है उसकी दयागुणशीलता अनन्त है, कभी-समाप्त नहीं होगी। तुलसीदासकी यह उक्ति--

मो सम दीन न दीनहित तुम समान रघुवीर।
अस विचारि रघुवंशमणि हरहु विषम भवपीर॥

इसका निदर्शन है।

हिन्दु धर्म में आत्मा स्वतन्त्र है। परतन्त्र नहीं। निर्गुण है। आत्मा पर किसी शिव, अल्लाह या ईसलाम सीह का एकाधिकार नहीं। सब धर्मों की समानता का यही आधार है। यदि ईश्वर अनन्त है तो ईश्वर का अनुभव भी अनन्त होगा। उसको एक कहना धर्म नहीं पाखण्ड होगा उस दृष्टि से भारतीय ऋषियों ने धर्म में प्राप्त अनुभवों को भी अनन्त माना है, किस कोणका अनुभव किसको प्राप्त हो? अतः सारे कोण उसीके हैं। उनमें से किसीको भी मिथ्या या गलत कहना ईश्वर की अनन्तताको नकारना होगा।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

वैदिक वैष्णव सम्प्रदाय एवं आगमिक वैष्णव सम्प्रदाय

भाषा का प्रश्न जटिल प्रश्न है। शब्दालंकार अर्थालङ्कार रीतियाँ साहित्यकारो को विदित हैं। अभिधा लक्षणा व्यञ्जना सब लोग जानते हैं। शब्द से अर्थ की प्रक्रिया में जाने केलिए अभिहितान्वय तथा अन्विताभिधान प्रसिद्ध हैं। इन सबसे पृथक् एक तात्पर्यार्थ भी है। वेदोंकी भाषा पर्याय सहन नहीं कर सकती तो तन्त्रकी भाषा हु फट् आदि अर्थ नहीं सहन करते अर्थात् अर्थ नहीं होते ऐसे शब्दोंका। साधारण बोलचाल में भी - 'बनारसी लंगडे को देखकर दो पैर के आदमीके मुँह में पानी आ जाता है' वाक्यमें लंगडे का अर्थ 'आम' बडे बडे कोशों में प्राप्त न होगा। वैसे ही रामराजका अर्थ नमक रामानन्दी सम्प्रदाय के बाहर लोगों को ज्ञात न हो। धर्म की भाषा और भी विकट है। बौद्ध और जैनों को अपनी पालि और अर्द्धमागधी भाषा को छोडकर संस्कृत में ग्रन्थ लिखने को मजबूर कर दिया। बाइबिल का भारतीय भाषाओं में अनुवाद के पूर्व संस्कृत में कम से कम दस अनुवाद तो अवश्य हुए हैं। धार्मिक क्षेत्र में भाषा इतनी पुरानी है उसकी इतनी सुदीर्घ परम्परा है कि प्रत्येक पद का अपने सामान्य अभिधेयार्थ से ऊपर उठकर एक धार्मिक प्रतीकार्थ भी है जो साहित्यक भाषा में प्राप्त नहीं है। मन्त्र स्नान, सन्निधि या एकान्त ऐसे पद है जिनका अर्थ धार्मिक परिवेश में पृथक् ही है।

धर्म अर्थ के तर्क संगत होने की अपेक्षा हृदय में समा जाने को अधिक महत्त्व देते हैं। इसके लिए मधुर पदावलि और ऐसी उपमाओं का प्रयोग जो अन्तःस्तल को छू दे अधिक उपयोगी है। वैष्णव धर्म में श्रृंगार - रति का पर्याय भक्ति हो गया है। नवयौवनाढ्या स्त्री-पुरुषों के नाचका अर्थ अलग है और उसी दल द्वारा प्रयुक्त रास पद का अर्थ अलग है। एक धर्म से जुडा पद है तो दूसरा साधारण भाषा से। कनक कनकते सौगुनी मादकता अधिकाय, इत खाये बौरात है उत पाये बौराय। यहाँ मादकता

और बौराना ऐसे पद है जिनका श्लेषार्थ एक चमत्कार पैदा कर देता है। जिस प्रकार से साधारण भाषा में पदार्थत्व अनुप्राणित रहता है उस अर्थ में धार्मिक पदों का अर्थ नहीं रहता। 'पुस्तक है', 'ईश्वर है' कहने में अन्तर है। पुस्तक को साधारणतया इन्द्रियों से देखकर सत्य या असत्य - पदका पदार्थ अर्थात् सही अर्थ प्राप्त हुआ कि नहीं बताया जा सकता है ठीक उसी प्रकार 'ईश्वर है' में नहीं क्योंकि ईश्वर नयनेन्द्रियगोचर नहीं है। अतः धार्मिक क्षेत्र की अर्थ प्रक्रिया पृथक् है। यदि इसी बात को और स्पष्टतया कहें तो यह मानना पडेगा कि हमारे शब्द भाण्डार की अपेक्षा हमारी चिन्तन क्षमता अधिक विस्तृत है अतः तदनुरूप भाषा में शब्दों की कमी है। उस चिन्तन - प्रसार को बताने के लिए उन अपर्याप्त अर्थबोधक्षम शब्दों का प्रयोग परते हैं जो भाषा में उपलब्ध है और अर्थ व्यापार को दूरतर करने केलिए उपमाओं का सहारा लेते हैं जिससे अर्थ समझने में आसानी हो। 'यथा 'आकाशगतो वायुः विहरणेन सन्निहितो भवति तथा अचंचल' मनः कृत्वा तद्यक्त्या ध्यायेत्।' पंखा झलने से हवा आती है यह लोक में सबको विदित हैं। व्यजनिका (पंखा) हवा पैदा नहीं करती पर झलने से जो अब तक त्वग्गोचर नहीं थी अब स्पर्शसुख देती है यह लोकानुभव है। इससे सर्वव्यापक परमात्मा भी ध्यान से दृष्टिगोचर होगा। यह उपमा का अर्थ सहजबोध होता है। तर्क से यह सम्भव नहीं। पर सादृश्य (यहाँ क्रिया) तर्क का स्थानापन्न बन जाता है। और बात को सहज ही ग्राह्य बना देता है। धार्मिक नेता अपने उपदेशों में ऐसे ही सादृश्य मूलक अर्थोपयुक्त शब्द प्रयोग से भक्त श्रोताओं को भावविभोर कर देते हैं। हरिकथा इस कला का एक उदाहरण है। आज कल नेता गण भी राजनीतिके क्षेत्रों में ऐसे श्लिष्ट शब्द और उपमानों का प्रयोग कर क्रान्ति की या उग्रवाद की सृष्टि कर डालते हैं। सामान्य प्रजा जन पर इसका क्या प्रभाव होगा इसकी परवाह नहीं करते।

कान्त भक्ति के उदाहरण हमको गोदा तथा मीरा के दो उदाहरण प्रस्तुत होते हैं। गोदा की कान्त भक्ति इस लिए पल्लवित हुई कि तामिलनाडु ने संस्कृत को उखाड फेंका। भक्ति साहित्य जो संस्कृत में था बह सबकी समझ में आनेवाला न था पर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध प्रत्येक पुरुष स्त्री का सम्बन्ध था जिससे सब लोग परिचित थे और सब की अनुभूति में सहज था। धर्म के क्षेत्र में संस्कृत भाषा की प्रचार - परम्परा बहुत पुरानी है और तामिल में इतनी पुरानी नहीं। अतः धार्मिक अर्थ इतने सतेज न हुए अतः विशेष अर्थें को बताने के लिए ऐसे उपमानों को स्त्री पुरुष सम्बन्धों से खोजा गया जो साधारण तामिल बोलचाल में उपलब्ध न थे। अतः कान्त भक्ति तामिल में पल्लवित

हुई।

भाषा पर अभिव्यक्ति के चिन्तन को लेकर और विचार बढा। भाषा का एक दर्शन ही उपस्थित हो गया। परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी आदि भाषा गत स्थितियाँ सामने आयीं। भाषा का स्थूल और सूक्ष्म रूप ऐसा समझाने का प्रयत्न किया। नश्वर अनश्वर रूप।

नई समस्या जो सामने आई वह है कि भारतीय चिन्तन पद्धति का भाषा की विकास सरणि पर क्या प्रभाव पडा या भाषा की प्रकृति ने भारतीय चिन्तन पद्धति पर क्या प्रभाव डाला। आज जब अंग्रेजी का बोलबाला है तो बहुत से ग्रन्थ संस्कृत से तथा अन्य भारतीय भाषाओं से अंग्रजी में अनूदित हो रहे हैं। संस्कृत में 'आत्मा' को बतानेवाले प्राय: ९० शब्द हैं पर सब एक दूसरे के पर्याय नहीं है और इन पदों के अर्थ का अन्तर इतना सूक्ष्म है कि उस सम्प्रदाय में रहे बिना इन पदों का अर्थ इतर सम्प्रदाय में रहे व्यक्ति नहीं समझ सकते। ये सब अपरिभाषित अर्थ हैं जिसका ज्ञान हमको इन्द्रियज्ञान पद्धति द्वारा नहीं वरन् अन्य पद्धति से होता है। यह पद्धति तत्तत् सम्प्रदाय की अपनी सामूहिक अनुभूति हैं। जैसे संगीत में घराना या पाक में रुचि। तब भाषा द्वारा अभिधेय (अपरिभाषित) उस अर्थ को पर्यायक्रम या वाक्य विन्यास के द्वारा प्रकट नहीं करता वरन् अनुभव द्वारा प्रकट करता है। यह अनुभव शब्दार्थ ज्ञान से नहीं वरन् भाषा की आत्मा या सम्प्रदाय निष्ठ सामूहिक चैतन्य से प्राप्त होता है। मैं एक बार १९५० में नैपाल गया था वहां एक बालक ने पूछा आपके देश का धिराज (महाराजाधिराज) कौन है मैंने कहा - कोई नहीं। वह बालक इस 'कोई नहीं' का अर्थ न समझ सका। चुनाव और राष्ट्रपति ऐसे पद थे जिन को उसने कभी न सुना था। भारत में भी बाउल लोगों का कहना है कि हम झूठे पत्तल में नहीं खाते उसका अर्थ है कि किसी अन्य के लिखे ग्रन्थों को नहीं पढते। हमारा अध्यात्म हमारा अपना व्यक्तिगत है। चिन्तन प्रक्रिया किसी अन्य गुरु या मठाधीश की देखरेख में नहीं चलती। भाषा की तब उनकी अपनी प्रकृति है और साधारण भाषा से मेल नहीं खाती। इधर बाउल साहित्य पर कई ग्रन्थ लिखे गये हें तथा उस सम्प्रदाय के प्रति लोगों में रुचि बडी है।

व्यक्तिगत धर्म ही धर्म है। मठादि तो सेकेण्डहेण्ड धर्म का ही अवलम्बन करते हैं। जिसको हमारे मनीषी धर्माभास कहते हैं।

आज कल विज्ञान दर्शन का बहुल प्रचार है। भौतिक शास्त्र का दर्शन गणित शास्त्र का दर्शन ऐसे दर्शन व्यवहार में आये हैं। आइन्स्टीन के बाद तो विज्ञान दर्शन

प्रचुर प्रचार में है। वास्तव में अङ्कों का कोई अर्थ नहीं है ये तो संख्यागत गुण जो किसी भी पदार्थ पर स्थापित किये जा सकते हैं। पर स्थापन पर जिस भाषा का प्रयोग होता है वह उस भाषा का दर्शन ही है। और उसे क्यों कि गणित में प्रयोग करते हैं अतः उसे गणितीय दर्शन कहते हैं वास्तव में यह भाषीय दर्शन है। इसी प्रकार भौतिकी में जिस भाषा का प्रयोग होता है उसे भौतिकीय दर्शन कहते हैं पर है यह उस शास्त्र में प्रयुक्त भाषा का ही दर्शन। यह अर्थ प्रक्रिया का दिग्दर्शन है जो वक्ता गृहीता दोनों के लिए निर्भर योग्य हो। अर्थ ग्रहण में कोई अन्तर न आवे दोनों एक ही अर्थ को अनन्य रूप से कहें और स्वीकार करें।

धर्म के दर्शन में पद और विचार दोनों का प्रयोग है अर्थात् पदों का वाक्यविन्या, कारक नियम आत्मनेपद परस्मैपद आदि अनेक नियमों से समझा जाता है। ब्रह्मसूत्र पर आचार्यों के भाष्य परस्पर विरुद्ध अर्थ बतानेवाले इसके उदाहरण हैं। ब्रह्मसूत्र के एक ही सूत्र का ऐसा परस्पर विरोधी अर्थ दार्शनिक वैभिन्य नहीं भाषागत वैभिन्य के कारण वैचारिक वैभिन्य है। इससे दर्शन पृथक् पृथक् हो गया। क्योंकि वैचारिक पदार्थ पृथक् है और इस पार्थक्य के कारण भाषागत विश्लेषणात्मक प्रक्रिया समान नहीं हो सकती। मीमांसाशास्त्र ने वेद के अर्थ के विषय में तो नियम बनाये हैं पर दर्शन क्षेत्र में ये कार्यकारी साबित न हुए क्योंकि वेद शब्द प्रधान है और शब्दों के अर्थ प्रतिपादक सामर्थ्य के बारे में तो नियम कार्यक्षमरूप से बनाये जा सकते हैं पर जहां दर्शन विचार प्रधान क्षेत्र है वहां ये नियम काम न कर सके। अतः अनेक वेदान्त हो गये यद्यपि ब्रह्मसूत्र एक ही रहा। धर्मक्षेत्र में जहां भाषागत समानता के बावजूद वैविध्य है वहां प्रश्न मुख्यतः भाषा के अर्थ का न होकर परमार्थ का है। यह परमार्थ वस्तु द्वारा उद्दिष्ट कोई पदार्थ विशिष्ट नहीं है वरन् एक वैचारिक सत् है। कल्पना सौन्दर्य है जो सत् है। तब भाषागत नियम भी इस वैचारिक सत् के लिए अपरिपूर्ण रहते हैं। और व्याख्याकार अपना अपना प्रस्थान चला देते हैं। जब हम 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहते हैं तो गणितीय अङ्कों के समान ब्रह्म, सत्य, जगत्, मिथ्या इन पदों के अर्थ में एक रूपता या सर्वस्वीकृत अर्थ नहीं है अतः विश्लेषण सम्भव नहीं है। इस नश्वर संसार में स्थिर जायदाद या आचन्द्रतारक रहनेवाले दान दिये जाते हैं जो निश्चय ही स्थिरता या हमेशा रहनेवाले इस अर्थ के अननुकूल है। जब हम भगवान को जगत् पिता कहते हैं तो साधारण अर्थ में ज्ञात पिता और पिता पुत्र सम्बन्ध नहीं पर लोग ऐसा प्रयोग करते हैं और अन्य लोग इसका अर्थ अपने मन से ज़ान लेते हैं। प्रपन्न की आत्मा

स्वतन्त्र नहीं है ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं है यद्यपि प्रपन्न 'दासानुदासोहम्' अपने आप को कहता है। क्योंकि दोनों विचार अलग अलग है और परस्पर विरोधी नहीं है एक स्थान पर एक साथ एकाधिष्ठान में रह सकते हैं। पञ्चावयव वाक्य भी भाषा रचना का एक पहलू या प्रकार है। अतः विचार गत स्थिरता या एकवाक्यता पदैकता या समानार्थकता को अनन्यता नहीं कहा जा सकता। समानता समानता ही है अनन्यता नहीं। हिन्दू स्वर्ग और मुसलमान बहिश्त यद्यपि साधारण बोलचाल में समानार्थक है पर एकार्थक नहीं। षट् दर्शनों की मोक्ष या परमपद कल्पना एक होने पर भी भिन्न है। मुस्लिम अल्ला तो हो सकता है पर हिन्दू अल्ला? 'गोरे गोड बनो व्रजराज' कहने जैसा होगा।

तामिल या संस्कृत को धर्म की भाषा कहना कहां तक ठीक होगा नहीं कह सकते। तामिल आज भी एक विशाल जन समुदाय की भाषा है। और जन संख्या गणना के अनुसार करीब दस हजार व्यक्तियों की मातृभाषा संस्कृत है। संस्कृत के माध्यम से पढाई होती है और शास्त्रार्थ भी पर यह कहना कि संस्कृत धर्म की भाषा है कुछ अट पटा लगता है। यह भाषा है जो श्रेणीय काव्य नाटकों में प्राप्त है। पाणिनि व्याकरण के अनुसार शब्द और वाक्य रचना का प्रचलन होता है। इस दृष्टि से धार्मिक भाषा कहना असंगत होगा। पर विचार धार्मिक हैं। ये विचार परम्परा में रहे बिना हमको ज्ञात नहीं हो सकते। अतः धार्मिक परम्परा विचार वैचित्र्यको जन्म देती है। ऊर्ध्वपुण्ड्र पीठ रहित और सपीठ दोनों अर्थों को प्रतिपादित करता है शब्द में कुछ न होने पर भी सम्प्रदाय या परम्परा एक विशिष्ट अर्थ का प्रत्याख्यान करती है।

इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य ज्ञान एवं इन्द्रियेतर (अतीन्द्रिय) ज्ञान में अन्तर करना होगा। इन्द्रियज्ञान भाषा सहकृत ज्ञान है। भाषा का अर्थ है भाषा का व्याकरण नियमाधीन होना। साक्षादनुभव में भाषा का पचडा नहीं है अतः व्याकरण की परिहार्यता सम्भव है। अनुभव का उल्लेख या वर्णन अनुभव नहीं है और भाषामें रूपान्तर है। जब वह भाषारूपान्तर मात्र है तो उस पर भाषा के नियम भी लागू होगें ही। चाहे वह अनुमिति प्रक्रिया हो या कारकादि व्याकरण प्रक्रिया। इस अर्थ में कबीर की उलटबांसी प्रसिद्ध है जिनका भाषागत अर्थ नहीं वरन् पदार्थ या वस्तु-बोध्य अर्थ ही अभीप्सित हैं।

गंगायमुनायेर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी
बालत्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्।

गंगा यमुना केमध्य में एक बालरण्डा तपस्विनी के वेश में रहती है उसको बलात्कार करके दबोच ले यही विष्णु का परम पद है।

यहां पर गंगा का अर्थ इडा और यमुना का अर्थ पिङ्गला है। इन दोनों के बीच में कुण्डली है वही बालरण्डा है।

जयति सुखराज एष कारणरहितः सदोदितो जगतां।

यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥

परमसुख बह है जिसका वर्णन करते समय सर्वज्ञ भी वचन दरिद्र हो गया क्यों कि यह सुखराज वचन या भाषा बोध्य नहीं है।

भाई मैं दूनों कुल उजियारी। बारह खसम नैहरे खायो, सोरहि खायो ससुरारी भाई, मैं ने दोनों कुलों का मुख उज्ज्वल किया है। नैहर में अर्थात् मातापिता के घर १२ पति किये और सोलह पति सुसराल में आये आजकल जब सास अपने पुत्र वधू को कोसती है तो कहती है डायन मेरे पूत को खा गयी। इस खा गयी का क्या अर्थ है? सम्पूर्णतया अपने वश में कर लिया। निगीर्ण कर गयी। धर्म ईश्वर के व्यक्ति के सम्बन्ध का नाम हैं। यहां ईश्वर और सम्बन्ध दोनों पद अपरिष्कृत हैं जिनके अर्थों पर सबकी सहमति नहीं है। अतः पदैकता होने पर भी अनेकार्थ हैं। और इस नानार्थ स्वभाव के कारण धर्मगत वैभिन्य है।

कबीरदासजी की यह उक्ति-पोथी पढ पढ जग मुआ पण्डित भया न कोय इसका अर्थ है कि पण्डित लोग धर्म का अनुभव नहीं करते-वे तो धर्म का अनुभव नहीं करते-वे तो धर्म का विवरण या विवेचन करेवाली भाषा का तर्क संगत और व्याकरण परक ज्ञान रखते हैं व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्ध का नहीं-धार्मिक अनुभव का नहीं।

भारत का मध्यम कालीन सन्तसाहित्य इस बात का प्रमाण है कि धार्मिक क्षेत्र में वैदुष्य इतना कार्यकर नहीं है। नहिं नहिं रक्षति डुकृञ् करणे शङ्कर की उक्ति इसका साक्ष्य है। शंकर स्वयं विद्वान थे और व्याकरण तथा तर्क की बीरीकियों को जानते थे। ईश्वर का धात्वर्थ निकाल कर धार्मिक नहीं बना जा सकता। कोशों की सहायता से किया गया भाषान्तर उपयोगी सिद्ध नहीं होता क्यों कि उन कोशीय पर्यायों में सांस्कृतिक अर्थ नहीं उभर कर आता। उसको जानने के लिए सम्प्रदायानुगत होना आवश्यक है।

प्रबन्धम्-पारायण भाषा प्रधान है। भाषा का प्रयोग भाषा की जकढ़न को ठीला नहीं होने देता। और आध्यात्मिक स्पन्दन से व्यक्ति को दूर ही रखता है। यह

स्वभावजकृत्य नहीं आहार्य है। सीखना पडता है।

वैखानस सम्प्रदाय क्रिया प्रधान है। क्रिया विश्वास का पर्याय नहीं परवर्ती कृत्य है। भगवद्भक्ति से ओत प्रोत होकर सेवा (पूजा) में प्रवृत्त होता है एतावता पूजा-प्रवृत्ति भगवद्भक्ति नहीं पर भगवान के स्वरूप में विश्वास (प्रकारतावच्छेक) स्थिर होने के परिणाम स्वरूप होनेवाला फलितार्थ है। पर भगवान के सामने जाने पर सिर का अपने आप झुक जाना स्वाभाविक कार्य है।

काल अपने आप में एक अन्य विशेषण है। प्रपत्ति उस युग में उत्पन्न हुई जब भारत विदेशियों और विधर्मियों के आक्रण से त्रस्त था और भगवान की शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न था प्रपत्ति का क्या अर्थ है और वह किस काल की उपज है यह गवेषणा का विषय है भक्ति सम्प्रदाय प्राचीन सम्प्रदाय ही और स्तुतियां वेद में भी पायी जाती हैं। पर भाषा के सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि वेद तामिल से प्राचीन है और किसी मानव समाज की प्रादेशिक अर्थ में भाषा नहीं है और मन्त्रों का पद व्यत्यय या स्वरभेद सहन नहीं जी सकता जब कि तामिल में ऐसा कोई आग्रह नहीं है। हां प्रबन्धम् गाने की अपनी एक तर्ज है। स्त्री, शूद्रों को वेदध्ययन का अधिकार न था जब कि आल्वार अधिकतर ब्राह्मणेतर और आण्डाल स्त्री है। अतः कालगत भाषा भेद का नियम (प्रयोग व्याकरण या तर्कपद्धति) जैसा तामिल पर लागू हो सका है ऐसा वेद मन्त्रों पर नहीं ऋषि तो वेद मन्त्र के कर्ता नहीं मन्त्र के दृष्टा मात्र थे। अतः भाषा के परिवर्तन शीलता के सामाजिक, सांस्कृतिक आरोपणों का नियम वैदिक मन्त्रों पर लागू नहीं होता फिर वेद मन्त्र अर्थ पर इतना बल भी नहीं देते। अतः भाषा के शैथिल्य के अन्य आरोप भी वैदिक मन्त्रों पर लागू नहीं होते। हूण सीथियन आदि विदेशी थे जिनका सस्कृत सीखना विशेषतः वेदाध्ययन सम्भव नहीं तब वे तामिल के प्रयोग से तुष्ट होने के सिवाय और क्या कर सकते। आकाश से पृथ्वी पर गिरने पर पानी गदला हो जाता है।

धर्म के क्षेत्र में उपदेश की महत्ता अत्यधिक है। उपदेश का साधारणतया माध्यम भाषा ही है। और भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता भाषा का सौष्ठव भाषाके नियमों से निगडित है। यदि धर्म को अतिजीवी बनना है सनातन बनना है तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना होगा जो काल में किसी परिवर्तन या प्रगति को स्वीकार न करे, अन्यथा धार्मिक चिन्तन में, उपयुक्त भाषा काल परिवर्तन के साथ, भाषा की प्रगति के साथ, धार्मिक

चिन्तन का मूल अभिधेय भी परिवर्तित हो जायगा क्योंकि भाषा का माध्यम-या साधन का साधन परिवर्तित हो रहा है। तब भाषा हुं फट् के समान निरर्थक हो जायगी क्यों कि जो गुरु उस भाषा-मूल भाषा जिसमें धर्म ग्रन्थ मूलतः लिपि बद्ध है का अर्थ नहीं जानता जैसे आज का पुरोहित और तब अभिधेय की सजीवता लुप्त हो जायगी आध्यत्मिक स्पन्दन का पराक्रान्त होना लुप्त हो जायगा और तोते की तरह भाषा का प्रयोग होता रहेगा। इस दृष्टि से वैखानस सम्प्रदाय में धर्मोपदेश की भाषा तत्तत्प्रादेशिक भाषा ही है जो अपनी सजीव क्षमता से बोध प्रक्रिया का सशक्त माध्यम रहता है और कर्मकाण्ड की भाषा वही मन्त्र है जिनका अर्थ संस्कृति एवं कालगत अन्य परिवर्तनों से अछूता है। तामिल प्रबन्धम् में ऐसा नहीं है वह कर्मकाण्ड भी है और उपदेश की भाषा का माध्यम भी अतः मूल धार्मिक तत्त्व जो तत्कालीन भाषा में था वह अब लुप्त हो गया है और भाषागत धार्मिक-तेज लुप्त होने से धार्मिक तत्त्व शिथिल हो गये है।

धर्म की परिभाषा

धर्म की परिभाषा में ही मानव दो दलों में विभक्त है। एक वर्ग का विश्वास है कि धर्म अतिमानव या ईश्वरीय देन है। दूसरा दल धर्म को मानव की अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति बताता है। जिस प्रकार विज्ञान या संस्कार सभ्यता आदि हैं। धर्म ईश्वरीय या अति मानव तभी हो सकता है, जब कि मानव वर्ग विशेष का ईश्वर में विश्वास हे। विश्वास पद का अर्थ क्या है कहा नहीं जा सकता क्या ईश्वर विश्वास को पैदा करता है? भूख-प्यास के समान विश्वास भी मानव की एक अपरिहार्य प्रवृत्ति है? जो वर्ग धर्म को ईश्वरीय देन समझता है, वह वर्ग यह समझता है कि ईश्वर प्रदत्त मुख्यभूत तत्त्व विश्वास इस वर्ग को ईश्वर द्वारा नहीं मिला है। विश्वासी व्यक्तियों के लिए धर्म संप्रदाय विशेष से अधिक है। पवित्रता संपादक कर्म, पूजा, प्रार्थना एवं तदनुकूल आचरण धार्मिक कृत्यों का, धर्म संबन्ध संस्कारों का निर्वाह कुछ यज्ञ यागादिकों का अवश्यतया पालन, व्रत उपवासादि इत्यादि का सम्पादन। इन सब का अर्थ है कि भगवदाराधन के लिए उपयुक्त आवश्यक तत्त्वों को भगवदर्पण कर भगवदाज्ञाओं का पालन करना, भगवदनुग्रह की पात्रता प्राप्त करना एवं भगवदनुमोदिनी जीवन-शैली को अपनाना, परन्तु जब धर्म को मानव द्वारा विश्वास से अधिक कुछ नहीं समझा जाता है, तो धर्म एकांगी हो जाता है। समग्र जीवन को व्याप्त नहीं करता। व्यक्ति या वर्ग विशेष कतिपय धार्मिक कृत्यों और विचारों को स्वीकार कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं। वे

सब, परन्तु समग्र जीवन को व्याप्त नहीं करते।

धर्म को ईश्वरीय समझनेवालों में भी मतभेद उनके धार्मिक व्यवहार में इतना अधिक है, जितना कि धार्मिक अधार्मिक वर्गों में। धार्मिक समुदाय में नास्तिक आदि पद कितने निन्दनीय हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

मूल प्रश्न है-क्या व्यक्ति को अपने ही संप्रदाय के अनुसार कुछ करने या न करने का अधिकार है? पश्चिम में राज्याधिकार या धर्मरक्षाधिकार के निर्णय में अनेक युद्ध अस्तित्व में आये। धर्माधिकार में धर्म का अनुपालन ईश्वरीय आज्ञाओं का पालन है। अतः स्वमर्धेतर विश्वासों में आस्था रखना धर्मसम्मत नहीं है। परस्पर विरुद्ध मत विश्वासों को ईश्वरीय कहकर मानना कुछ अर्थ नहीं रखता है।

विश्वास ईश्वर में या धर्म में ईश्वरानुग्रह है। श्रद्धा का स्रोत प्रातिभज्ञान या अतिमानव अनुग्रह नही है। यह तो क्रमशिक्षण, संस्कार, सत्संगति एवं ऐसे नियमों के परिपालन से जिनको ईश्वर चलाता है, अपनी अनिगडित इच्छा से, ऐसे अवसर पर जब वह (ईश्वर) उपयुक्त समझता है। श्रद्धा का पात्र-ईश्वर नहीं है। वह व्यक्ति है, जिसे ईश्वर नियुक्त करता है, पामर जनों को उपदेश देने के लिए। इन धर्मगुरुओं पर श्रद्धा तथा उससे बढकर विश्वास उनके वचनों की अवश्य पालनीयता पर हो। बस, यहां एक प्रश्न उपस्थित करता है-जब हम धर्मगुरुओं द्वारा प्रदत्त आज्ञाओं को साक्षात् ईश्वरीय आज्ञा नहीं है या दैवी ज्ञान नहीं है ऐसा जान लेते हैं, तब धर्म में, धर्म संस्थाओं में जिनको कि हम अमर्यादित रूप से मानते हैं हमारी आस्था का क्या होगा?

अकिना का मत इससे पृथक है। हमारे विश्वास और श्रद्धा के पात्र मूर्ति, विग्रह, आयुध या अन्य धार्मिक पदार्थ या पदार्थेतर हमारी आस्था को या हमारी आस्था के माध्यम को दृढ करते हैं उनकी अनुपालनीयता हम पूर्णरूपेण निभाते हैं।

लाक का मत है कि पद का पदार्थ रूप में विनिमय या शब्द का अर्थ में संक्रमण अपनी असम्पूर्णता के कारण अवश्य पालनीयता की परिहार्यता को सन्देहास्पद बना देता है।

ह्यूम का मत है कि श्रद्धा या किसी धर्म में अटूट विश्वास आस्था से आता है, और यह तर्क से नहीं। प्रातिभज्ञान या दैवीज्ञान पालनीय धर्म के व्यतिरेक या दार्शनिक धर्म के प्रतिरूप कुछ भी व्यक्त नहीं करता।

अनुपालनीय धर्म हमको उंद्रियार्थजन्य अनुभव के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे

सकता है। हमारे आचरण के इंद्रियार्थजन्य संवेदना के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकता है।

मार्क्स और ऐंजिल्स धर्म को स्नायविक प्रतिसंवेदनशीलता मानते हैं। यदि सत्य की ही खोज धर्म का मुख्य प्रतिपाद्य है, तो विज्ञान उस परम सत्य का अन्वेषण करने के लिए पर्याप्त है।

धर्म या आत्मीय लक्ष्य परमलक्ष्य है, परम पुरुषार्थ है, जबकि अन्य प्राप्तियां केवल सामयिक या एक जन्मगामी हैं।

वैखानस

नख स्वयं सजीव से निर्जीव की उत्पत्ति के निदर्शन हैं और इन से पैदा हुए वैखानस। निर्जीव में क्या पैदा करने की शक्ति है? नृसिंह अवतार में हिरण्यकशुपकी आतंडी नखों से पेट फाड कर बाहर निकाल दीथी नखों में इतना बल है वैखानस को वानप्रस्थ का पर्याय कहा गया है। तितिक्षु और तपस्वी।

आरण्यक, वैदिक वाङ्मय का एक महत्त्व पूर्ण अंश है। यह ब्राह्मण और उपनिषदों के बीच की कडी है यहां ब्राह्मण का यज्ञ-प्रक्रिया को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा उपनिषत् पदका अर्थ मननादि उपायों से ज्ञानोदय है। ये दो प्रक्रियायें अपने आप में दो दृष्टि बिन्दुओं को लेकर चलने वाला दृष्टिकोण। जहां यज्ञ भी नहीं छूटा और ज्ञान भी। तब क्या यह गृहस्थाश्रम और सन्यासाश्रम के बीच की कडी है? उपनिषत् केवल ध्यान या मनन का प्रतिपादक शास्त्र है सन्यास धर्म का मुख्य कर्तव्य। सन्यास और गृहस्थ को दो आदर्शों में विभक्त किया है। समाजपराङ्मुख और समाज की मर्यादा में स्थित।

भूख मिटाने और आत्मा की शान्ति दो पृथक शान्तियां हैं। 'अद्धे, बाबा नास्ति तैलं न च लवणमपि' पाकाकुल गृहयुवतियों का वाक्प्रहार सहन सीमा कोप्रतिदिन लांघने लगा। यज्ञ की पशुबलि-अहिंसा की नूतन परिभाषा (यज्ञ में पशु को मारना अहिंसा है) विगलितदन्त होने के कारण मांस न खाने की विवशता, सब ने उपायान्तर खोजने को विवश किया। मरीचिने एक ही झटके में जहां मांस पद का प्रयोग है वहां पिष्ट या आटा कर दिया। पर एतावमन्मात्र से यज्ञ के प्रतिवैराग्य या आत्मशान्ति की ओर किये गये प्रतिप्रयत्न की घनता कम न हुई। यज्ञ की परम्परा को तोडना तो सम्भव न हुआ पर आत्म शान्ति के अन्य प्रयोग खोजे गये। आत्माहुति-पूजा अर्चना-आत्माग्नि में जुहोति-भौगेश्वर्य-प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यसायात्मिका बुद्धिः

समाधौ न विधीयते गी. ४.४२-४३ त्रैगुण्यविषया वेदाः११.४५ गीता में वेद वादरत लोगों की निन्दा हैं।

इतिहास

वैखानस सम्प्रदाय उस युग में प्रवर्तित हुआ होगा जब यज्ञ प्रक्रिया ह्रासोन्मुख हो गयी होगी। यज्ञ प्रक्रिया के ह्रासोन्मुख होने पर भू एक विश्वास जन साधारण के मनमें दृढ मूल हो गया कि हम प्रकृति से जो चाहें वह यज्ञ द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। पुत्रेष्टि यज्ञ करके पुत्र अश्वमेथ यज्ञ करके सार्वभौम राज्य। आहुतियों द्वारा आज्य एवं अन्नादि के अग्नि प्रक्षेपण से इन्द्र वरुणादि देवता प्रसन्न होते हैं। यह स्मरणीय है कि दान पद हविके अर्थ में भी प्रयुक्त है। अर्थात् यज्ञेश्वर का माध्यम अन्य देवताओं को प्रसन्न करने के लिए एक सत्य एवं दृढ साधन बना। उसकी कल्पना पर ईश्वर को यदि प्रसन्न कर लिया जाय तो हमको प्राकृतिक नियमों से छुट्टी या कर्मबन्ध से छुटकारा प्राप्त हो सकता है।

कर्म या प्रारब्ध का सिद्धान्त आज भी भारतीय मानस पटल पर हढ आसन जमाये बैठा है। वेङ्कट नाम ही कर्म नाश का पर्याय है। बनारस के पास कर्मनासा एक नदी है जिसमें स्नान करने से कर्म धुल जाते हैं। सुल्तानपुर के पास भी एक धौतपापा नदी है।

कर्म फल अवश्य भोक्तव्य है। निष्काम कर्म का तब क्या अर्थ है? कार्य-कारण नियम प्रकृति नियम है। जब कारण है तो कार्य भी है। तब निष्काम कर्म का अर्थ क्या है? जो कर्म का फल है वह मुझे न मिले, ईश्वर को मिले। अवश्य अनुभोक्तव्य कर्मफल को क्या ईश्वर भोगता है? या फिर नष्ट कर देता है। शायद कर्मफल को नष्ट करने का सिद्धान्त हिन्दू शास्त्रों ने नहीं माना है। कर्म ही न करो जिससे फल ही पैदा न हो। शराब पीने के बाद नशा न चढे ऐसा नहीं हो सकता, क्यों कि ये कारण-कार्य भाव से बन्धे हैं। यहां परिणामवाद या अन्य किसी वाद के पचडे में पडने का उद्देश्य नही हैं पर--

केचित्त्वन्नाम भजनात्काश्यां तारोपदेशतः।
अन्ये तु सांख्ययोगेन भक्तियोगेन चापरे॥

सांख्य योग और भक्ति सम्प्रदाय दोनों भिन्न भिन्न प्रस्थान हैं। उपासकों की उपासना पूर्ति होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने तक मोक्ष नहीं है अथवा प्रारब्धकर्म क्षय ही मोक्ष है।

प्रदक्षिणा

प्रदक्षिणा मन्दिर में स्थित मूर्ति और उससे सटे मण्डप या सम्मिलित भवन का दक्षिणावर्त संक्रमण है। बौद्ध पालिभाषा में इसे चंक्रमण कहते हैं। यह प्रदक्षिणा भाव आध्यात्मिक कलाप के रूप में उभयत्र विद्यमान है।

संसार को संसार - चक्र कहते हैं। जब ग्लोब को तेजी से घुमाया जाता है तो किस देश की स्थिति कहां है यह नहीं बता सकते। गति मन्द होने पर ही या स्थिर होने पर अमुक देश कहां स्थित है, बता सकते है।

भ्रम पद के दो अर्थ है। भ्रम पैदा करना निश्चित ज्ञान का अभाव तथा भ्रमण या घूमना। जब कथक करती नर्तकी घूमती है तो वेगवती के भ्रमण से दिक् लोप हो जाता है वैसे बच्चे भी धूम कर गिर जाते है क्यों कि देश की स्थिरता लुप्त हो जाती है। पर नर्तकी गिरती नहीं है अभ्यास के कारण।

मन्दिर में साक्षात् देव प्रत्यक्ष पर पञ्चतत्त्व इतने क्रिया शील हो गये है कि जीव उसमें से बाहर आ जाना चाहता है। उस परम तत्त्व में एकाकार हो जाना चाहता है यह प्रदक्षिणा पथ उस भ्रमण का, उस भ्रमकारिता का एक नमूना है।

स्त्रियां प्रायः इतनी प्रदक्षिणा की १०८ या १००८ आदि आत्मगुण का बखान करती है। फिर दण्ड - पदक्षिणा सर्प - प्रदक्षिणा। अभी हाल में डा. शंकर दयाल शर्मा ने दण्ड प्रदक्षिणा की। दण्डे प्रदक्षिणा का अर्थ है। मनुष्य अपनी ऊँचाई तक चलता है उसके वाद नमस्कार भूमिपर दण्ड वत लेटकर करता है। और सारे प्रदक्षिणा पथ में इसी प्रकार करता है। सर्प - प्रदक्षिणा का अर्थ है प्रदक्षिणा करने वाला व्यक्ति खडा ही नहीं होता सारा प्रदक्षिणा पथ लुढकते हुए ही पूरा करता है। निश्चय ही यह संसार चक्र में परिभ्रमण का उपमान या प्रतीक है। जितने जन्म - या योनियां कर्म में बन्धी हैं उतनी बार प्रदक्षिणा कर लेने से शायद संसार चक्र से या जन्ममरण के चक्कर से धुही मिल जाय।

घण्डानादं कृत्वा, मन्दिर में प्रवेश करते ही घण्टा बजा कर देहलीज को नमस्कार कर या देहलीज को हाथ या उगंली से धूकर नमस्कार कर उस उंगली को माथे पर लगा कर प्रवेश करते हैं। कहीं कहीं पर गर्भगृह और मण्डप एक ही होता है और प्रायः तो

गर्भगृह पृथक् और मण्डप पृथक्। प्रदक्षिणा गर्भगृह और मन्दिर दोनों ही की की जाती है। बाहर आने पर पुनः घण्टा बजाते हैं ओर प्रदक्षिणा पथ की ओर अग्रसर होते हैं। इस घण्टा नाद का क्या अर्थ है।

घण्टानाद के समय यह श्लोक पढा जाता है–

अपसर्पन्तु ते भश्रूताः ये भूताः विघ्नकारकाः।
येषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ॥

भूत पद का अर्थ पञ्च भूत भी है। परन्तु यहाँ उन जीवों से होगा जो विघ्नकर सकते हैं। जिन पञ्च भूतों से संसार बना है काम क्रोधादि जिनसे उपजे हैं। यह जीव को आवृत पञ्चतत्त्व का यह चोला किये है।

प्रणाम करके प्रवेश करने का अर्थ है कि सांसारिक क्षेत्र से आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं इस प्रवेश के उपलक्ष में यह घण्टा है। लौट कर आकर बजाये जानेवाला घण्टा विजय सूचक घण्टा है और प्रदक्षिणापथ तो जैसे किसान जमीन खरीदने के बाद अपना हक सार्वजनीन रूप से सब को प्रकटित करने के लिए हल चलाता है वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में निरर्गल सञ्चार है यह प्रकटित करने के लिए घण्टा बजाते हैं।

घण्टा सब मन्दिरों में रहता है। काल की गति परिसीमित कर काल खण्ड को बताने का साधन है। वैसे आजकल स्कलू कालेजों में, शादी विवाह पर सामाजिक उत्सवों में भी बजाया जाता है; आनन्दकाल को सामान्य काल से पृथक् करने के लिए।

युद्ध के लिए प्रस्थान पूर्व घण्टा बजाने की प्रथा भारत में अनेक काल से चली आ रही है। लौटकर आने के पश्चात घण्टा बजाने का अर्थ अब आध्यात्मिक काल का अवसान हो गया या आध्यात्मिक क्षेत्र में नहीं हैं। स्कूल कालेजों में गणित के पिरीयड के बाद अंग्रेजी पढाई जाती है। गणित क्षेत्र से भाषा क्षेत्र में संक्रमण का एक कालखण्ड विभाजन प्रतीक। वैसे पूर्व काल में राजाओं की दिन चर्या घण्टा बजाकर ही सब को राजा को रानिवास को भी सूचित करते थे। नौबतखाना राजमहलों का एक प्रमुख अंग है।

प्रसाद

दक्षिण के मन्दिरों में अन्न प्रसाद मिलता है। अन्न की बिक्री करने पर प्रायश्चित्त है। पर प्रसाद तो अन्न नहीं हैं। राजा का कर्तव्य है कि जो अकाल की स्थिति में अपने पास संगृहीत धान्य का बंटवारा नहीं करता उसके उसका सारा माल जप्त करके उसे दागकर राष्ट्रसे बाहर कर दे।

प्रसादानथ दास्यन्ति धर्ममार्ग प्रचोदिताः।
लक्ष्मीपरिजनाः केचित् वैष्णवाः विष्णुसन्निधौ ॥

तस्मात् धनार्जनं कृत्वा देवाय च धनं बहु।
दत्वा कलौ तरिष्यन्ति तन्निमिन्तमिदं गृहम् ॥* (*कैंकर्य रत्नावलि पृ.७३ श्लोक १२१, १२२.)

प्रसाद को बेचकर धनसंग्रह जघन्य अपराध होगा।
विष्णु प्रसाद निर्माल्यं भुक्त्वा धृत्वा च मस्तके
विष्णुरेव भवेन्मर्त्यो यमशोकविनाशनः
अर्चनीयो नमस्कार्यो हरिरेव न संशयः। पद्मस्वर्ग.५०.१८.

श्रीविष्णु के प्रसाद रूप निर्माल्य को खाकर, मस्तक पर धारण करके मनुष्य साक्षात् विष्णु रूप हो जाता है। यमशोक का विनाशक हो जाता है। गीता ३.१३ में यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः जो परमपुरुष की पूजा के पश्चात् बचे हुए प्रसाद को खाते हैं वे सारे पापों से दूर हो जाते हैं।

प्रसाद शब्द संस्कृत में कई अर्थों में प्रयुक्त है। भगवाने वं महापुरुषों की दया, अन्तः करण की स्वच्छता तथा प्रसन्नता तथा भगवान करे अर्पित किया गया नैवेद्य ये सभी प्रसाद है। अलंकार शास्त्र में प्रसाद एक गुण है । मन्दिर का पर्याय भी है।*

(*प्रसादकरणं पुण्यं देवार्चाकरणं तथा।
सुरार्चापूजनं पुण्यं तत्र पुण्या नमस्क्रिया ॥ वि.धर्मोत्तर१.११.)

गीतमें कई स्थानों पर प्रसाद पद प्रयुक्त है।* (*१२.६२,१८.३७)

प्रसादो = नैर्मल्यम् ऐसा शंकर ने गीता १८.३७ की टीका में निवृत्तसकलेन्द्रियविषयत्वं प्रसादः कहा है। आत्मबुद्धि का समस्त इन्द्रिय विषयों से निवृत्त होना ही प्रसाद है । रामानुजने भी प्रायः ऐसा ही कहा है।

प्रसाद स्वीकार करते समय यह वचन उच्चारण करना चाहिए। संसार भय से विमुक्ति के लिए मै नित्य भगवान के प्रसाद का जिसको कि भगवान ने भोग्य समझा है सेवन करता (खाता) हूं जिसकी कि वैखानस प्रमुख पूजा करते हैं और बाकी बचा प्रसाद वैखानस ही खाते हैं * (*अत्रि ७८.५१.) प्रसाद को भगवान के समर्पण के पश्चात् पुजारी गृहस्थ को लौटा देता है। प्रायः निवेदन के पश्चात् उसमें देवता के चरणों से उठाई गयी तुलसी या फूल रख कर वापस करता है। तब प्रसाद वह माध्यम है जिसके द्वारा भगवद्दिव्य अनुग्रह ऐश्वर्य या महिमा प्रसाद के रूप में भक्त के पास लौटजाती है। भक्ति या श्रद्धा करे भगवच्चरणों तक में पहुँचाने का माध्यम भी है।

और्ध्व दैहिक कार्यों को श्राद्ध कहते हैं, जिस क्रिया में श्रद्धा का माध्यम ब्राह्मणों को विश्वेदेव, पितृदेव एवं महाविष्णु को अन्नदान या भोजन कराना मुख्य है।

श्रुत्यन्तरे —

विष्णुनाशितमश्नन्ति, विष्णुना पीतं पिबन्ति।
विष्णुना घ्रातं जिघ्रन्ति विष्णुना रसितं रसयन्ति।
तस्माद्वि द्वांसो विष्णूपहृतं भक्षयेयुः॥
इति की भूमिक पृ. १२०. पर उद्धृतवैखानस गृह्य सूत्र

भागवत

त्वयोपभुक्त स्त्रगन्धवासो लंकारचर्चिताः
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तवमायां तरेमहि हारीत
कृपादत्तं हस्तगतं विष्णुभक्तोज्झितं तु यत्
उपवास छलान्नत्ति तेन भुक्तं सुरोपमम्॥

भृगु यज्ञाधिकार में

बलिशेषं होमशेषं वैश्वदेवे विशेषतः
गृहीया द्वैश्वदेवार्थं भोजनार्थश्च ऋत्विजः

देवलने प्रसादके भक्षण का समर्थन नहीं किया है।* (*देवालये चक्षुक्तं यदन्नं मूल्यसम्भवम् पृ.४११ देवलस्मृति) खाने पर प्रायश्चित करने को कहा है। तब प्रसाद भक्षण, अभक्षण दो सम्प्रदायों को बताता है। वैखानस सम्प्रदाय प्रसाद भक्षण का प्रबल पोषक है। जैसा पिता का झूठा पुत्र भृत्य सब लोगों के लिए भोज्य है वैसे ही

परपिताविष्णु का उच्छिष्ट अवश्य भोज्य और भोक्तव्य है।* (*यथा गुरोरुच्छिष्टं पुत्रभृत्यानां भोज्यं तथा सर्वेषां गुरोर्विष्णोरुच्छिष्टं देवानां मुनीनां च निवेदनीयम्। मरीचिविमानर्चन पटल ४३ पृ.२९७.)

श्रद्धा तर्क प्रश्रयानुकांक्षी नहीं है। दृढाश्रद्धा के होने पर सन्देह की गुञ्जाइश ही नहीं रहती विमल मति सन्देह की कोटि से बाहर हो जाता है।

भूख मिटाने या जिह्वा -चापल्य के लिए प्रसाद भक्षण की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रसाद-भक्षण धार्मिक सभ्यता का एक ऐसा आवश्यक अंग है जैसा समाज में रहने के लिए वस्त्र धारण करना। एक पालनीय धार्मिक चैतन्य जो व्यक्तिगत और सामाजिक मर्यादा से जुडी है। प्रसाद अधिक से अधिक लोगों को (भक्तों) दिया जाता है और वह भी अत्यल्प मात्रा में। भक्त प्रसाद को सिर झुकाकर प्रायः दोनों हाथों से (अति स्वल्प भी) ग्रहण करता है। सिर क्यों और किसके सामने झुकाता है? इतने स्वल्प प्रसाद के लिए दोनों हाथों की क्या आवश्यकता है? प्रसाद में वह दिव्य तत्त्व है जिसके लिए सिर अपने आप झुक जाता है। और दोनों हाथ उस प्रसाद में स्थित अति सांसारिक महत्ता के लिए। प्रसाद वितरण केवल अन्न का (भौतिक वस्तु) का समाज के वर्गों में वितरण (सम-समाज के नैतिक मूल्यों के अनुरूप) नहीं है। प्रसाद में न तो भौतिक वस्तु की कल्पना है और न समवितरण की।

मानव के मूल प्रेरक तत्त्व मुख्यतया तीन माने जा सकते हैं। काम - अर्थ -एवं धर्म-मोक्ष। पशुओं में जहां धर्म-मोक्ष और अर्थाभिमुख होने की गन्ध भी नहीं है वहां काम है। काम प्राणी-मात्र की बलवत्तर इच्छा है। कुछ अर्थों में अदम्य भी कह सकते हैं। मानव समाज में भी पुरातन युग में जब जीवन आखेट मत्स्यग्रहण या वन में फल मूल कन्द से जीवन यापन आसानी से हो जाता था और बहुत सम्भव है कि मानव मानव में इनके प्राप्त करने के लिए प्रति स्पर्धा भी नहीं थी, प्रतिस्पर्धा के बिना अर्थकरी कार्य प्रथा पनप नहीं सकती । पर मोक्ष की लालसा इन दोनों काम - अर्थ पुरुषार्थों से प्रशस्ततर है तभी तो राजे महाराजे सारे राज पाट को छोडकर वैराग्य के वशीभूत हो, प्रेरित हो संसार का त्याग कर सन्यासी हो जाते हैं। हिन्दु शास्त्रों में मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ माना है। और अनुभव भी यही बताता है। अतः मोक्ष की लालसा बडा प्रबल प्रणोदक तत्त्व है। और यह प्रसाद भक्षण उस धार्मिक आनुगुण्य का प्रबल उपबृंहक और प्रणोदक तत्त्व सिद्ध होता है क्यों कि प्रसाद - भोक्ता का चैतन्य देवोन्मुख होता है।

प्रसाद भक्षण किस अर्थ में सामाजिक कृत्य है। वे बच्चे या स्त्रियां भी जिनका अपना कोई सांसारिक व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है वे भी श्रद्धापूर्वक ग्रहण करते हैं। क्यों? यह एक धर्म - समाज का अभीप्सित उद्देश्य है अर्थात् परम-पुरुषार्थ का प्रापक या प्राप्ति में सहायक है। इस दृष्टि धर्म- समाज की जिसका कि वह व्यक्ति बाल स्त्री एक अंग है अपना स्वार्थ न होते हुए भी समाज के आदर्शों के परिरक्षण के लिए सादर प्रसाद स्वीकार करता है।

प्रसाद की एक और विशेषता है। मन्दिर में चढाये हुए भोग से पता लगता है कि मन्दिर का पोषक भक्त समाज कितना समृद्ध था या है। पुष्टि मार्गीय मन्दिरों में यह और भी स्पष्ट है कि धनी व्यापारी वर्ग इसका पोषक है जिससे भोग खर्चीला और बहुविध बनता है। तिरुमल जैसे समृद्ध मन्दिरों में भी देखा जा सकता है। यहां पर बडे लड्डू का आकार एक फुट बाल और छोटे लड्डू के आकार २५० ग्राम या क्रिकेट बाल से कुछ बडा। इस आकार का लड्डू मन्दिर की समृद्धि का जयघोष करता है। और तत्पोषक समाज का। भौतिक दृष्टिकोण से उस मन्दिर स्थित भगवान का सामर्थ्य।

जब होटल-प्रथा नहीं थी तब क्या मन्दिर यात्रियों के विश्रामस्थल होते थे? विश्राम के साथ उदर पोषण आवश्यक अंग है। क्या प्रसाद का वितरण इस अर्थ में कभी समाज के लिए उपकारक प्रथा के रूप में उभरा? प्रसाद भक्षण भारतीय आस्तिक समाज में ही हो ऐसा नहीं है। चैसे चैत्री का उत्सव नव धान्य के समर्पण के लिए है और परिणाम उसके भक्षण में है वैसे ही नृपति जिम्मू के यज्ञ के बाद राजा स्वयं नूतन या नवान्न गृहण करते थे। इस उत्सव का नाम 'निहिनाम' था। राजा के प्रसाद स्वीकार के पश्चात् पुजारी अर्चक परिचारक उपसर्पक आदि सभी लोग स्वीकार करते थे अन्यत्र 'कसुगा' उत्सव में अन्न प्रसाद के अनधिकारियों को तीर्थ प्रसाद दिया जाता था। एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स खण्ड ११.पृ.२४.

विष्णु प्रसाद निर्माल्यं भुक्त्वा धृत्वा च मस्तके।
विष्णुरेव भवेन्मर्त्यो यम शोक विनाशनः ॥

स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो यः प्रसीदति प्रदार्थमस्तके।
तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः ॥

गुरु का प्रकाश वपु जब प्रसन्न होता है तो पदार्थ के मस्तक पर जा बैठता है, और ऐसे प्रसाद को खाने से भक्त मोद को प्राप्त होता है।

प्रायः लोगों में मन मुटाव के बाद सत्यनारायण की कथा कराने की चाल है। या ऐसा ही कुछ धार्मिक अनुष्ठान जिसमें तटस्थ, मित्रेतर एवं अमित्राभी उपस्थित होते हैं, मिलते हैं और प्रसाद भक्षण (स्वीकार) के पश्चात् मन मुटाव दूर हो जाता है। इस प्रकार प्रसाद वितरण समाज के व्यक्तियों के बीच मन मुटाव मिटाने का एक उपाय है। और इस प्रकार धर्म सामाजिक सगठन की दृढता को पुष्ट करता है। और प्रसाद स्वीकार इसका मुख्य कारण है।

गीता ९.२४ में कहा है – 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता' सारे श्रौत स्मार्त यज्ञों का भोक्ता भगवान वासुदेव ही है। प्रसाद भक्षण संयुक्त परिवार में एक चौके में भोजन करने के समान है। जो भगवान के भोग के लिए तैयार किया गया है उसको हम भी खाते है इसका अर्थ है हम भी भगवान के ज्ञाति हैं। वैखानसाश्च मत्पुत्राः दत्तपुत्राश्च दीक्षिता। वैखानस मेरे पुत्र हैं उसी चौके में खाने के हकदार हैं। पंक्ति पावन पंक्तिदूषक जैसे शब्द हिन्दू समाज में अत्यन्त प्रचलित पद हैं। 'तदहं भक्तयुपहृतमश्नामि' गी.९.२६. मैं भक्ति से समर्पित जो भी हो उसको स्वीकार करता हूं। वै.सू. ३.६. में भी हुतशेषेण श्रोत्रियं ब्राह्मणं तर्पयित्वा लिखा है। अर्थात् यज्ञ शेष को खाने की परिपाटी है और पूजा तो यज्ञ से बढ कर है। पूजा प्रकाश पृ. १३८ में एक श्लोक दिया है–

मम ज्ञान सिद्ध्यर्थं वा विष्णुस्थिरभक्तये।
कामार्थ सिद्धये देव भुक्तशिष्टं प्रयच्छ मे॥

भुक्तशिष्ट देने के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं।

अत्रि ने ७८.५२ में कहा है–

वैखानसाराधित्तमाधवोपभुक्तं प्रसादं भवभीतिशान्त्यै।
प्राश्नमि नित्यं कमलाकलत्रस्वरूपवैखानसभुक्तशेषम्॥

भवभूतिशान्ति के लिए माधव से उपभुक्त जो प्रसाद है उसका मैं नित्य सेवन करता हूं।

पद्मपुराण में कहा गया है कि यदि प्रसाद कई दिन पूर्व का है और बहुत दूर से लाया गया है तो भी उसकी तुरंत स्वीकार करना चाहिए। धर्म एक विश्वास को जगाता

है जी कि सामूहिक रूप से स्वीकृत है जो सर्वजनीन सर्वस्वीकृत कर्मकांण्ड या धार्मिक कृत्यों की स्वीकार्यता समाज के हर व्यक्ति में भर देता है और सर्वजन स्वीकृत विश्वास ही समाज का सबसे बलवत्तम संगठन है।

इस विश्वास के अतिरिक्त धर्म का एक और अवदान है। मानव - मानव के बीच ईश्वर के माध्यम से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया। इस प्रक्रिया में एक नियम बद्धता है जो समाज में व्याप्त होकर मानव को मानव से जोडती है।

यह विश्वास सारे जनों की चित्तवृत्ति को ऐसा आवर्जित करता है कि सारे जनों की विचार सरणि एक समान हो जाती है चाहे वह सामाजिक समस्या हो, राष्ट्रीय या आर्थिक और सबसे महत्त्व पूर्ण सब लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाली सांस्कृतिक समस्या।

तीर्थ

तीर्थ का अपना महत्त्व है। अत्रि ने समूर्तार्चनाधिकार में तीर्थ लेने का मन्त्र दिया है–

आरोग्यमस्तु शुभमस्तु यशोस्तुनित्यं
श्रीरस्तु शान्तिरभयं शुभमस्ति विष्णोत्वत्पादपङ्कजविनिर्गत पाद तोय
मास्वादयामि पुरतो न पुनर्भवाय आध्याय ७८.श्लोक.४८.

तीर्थ से कोई वश्चित नहीं है। सब आश्रमियों को तीर्थ लोना चाहिए ऐसा वचन सर्वत्र प्राप्त है। एक बार स्त्री शूद्र को तीन बार ब्राह्मण को यह भेद परवर्ती काल का होगा।

तीर्थ कैसे लिया जाय –

वस्त्रं चतुर्गुणं कृत्य पाणौ पाणिं निवेश्य च ॥४२॥
तत्र तीर्थं च संयोज्य त्रिःपिबेत् बिन्दुवर्जितम्।
अविद्यामूलनाशाय जन्मकर्मनिर्वत्तये ॥४३॥
ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं विष्णोः पादोदकं शुभम्
परमाणु समं तीर्थं महापातक नाशनम् ॥४४॥ अत्रिः समूर्तार्चनाधिकरण. ७८.

विष्णु का पादोदक ज्ञान एवं वैराग्य को देनेवाला है। जन्म एवं कर्मका निवारक है। महापातकों का नाशकरनेवाला है। बायें हाथ की हथेली पर दांये हाथ को हथेली

रखकर उस अञ्जलिपुट में तीर्थ संग्रह कर एक बूंद भी बिना छोडे तीन बार स्वीकार पिये। निश्चय ही तीर्थ में यह दिव्य शक्ति भगवदंश स्पर्श द्वारा पराक्रान्त सामर्थ्य ही है।

विष्णोः पादोदकं पीतं कोटिजन्माघनाशनम् पाताल ७९.३३.

भारत में रस रसायन सम्प्रदाय योग सिद्ध दर्शन सम्प्रदाय तथा आयुर्वेद में एक औषधि विशेष के रूप में भारत भर में प्रसिद्ध हैं।

भारत के मन्दिरों में चरणोदक या चरणामृत देने की प्रथा है। इसी को लामा सम्प्रदाय में रसार्यन कहते हैं।

इसको तैयार करने की विधि प्रार्थना-प्रायश्चित्त- शाक्य मुनि द्वारा उद्धार किये गये सारे कृत्य - धन्यवाद । प्रार्थना और प्रायश्चित्त के बीच शुद्ध पवित्र जल तैयार किया जाता है एक उप-अर्चक मुकुर को ऐसे धारण करता है जिस पर भगवान बुद्ध का प्रतिबिम्ब पडे अन्यशिष्य (मंगोलियनपद जो तामिल भाषा में भी इति अर्थ में प्रयुक्त है) और मुकुर के ऊपर जल डालता है। यह जल बुद्ध की प्रति विम्बित मूर्ति को स्पर्श करते हुए मुकुर से नीचे गिरता है। इस बुद्ध प्रतिमा प्रतिबिम्ब से स्पृष्ट जल का संग्रह कर लिया जाता है जिसको तृतीय शिष्य सावधीनी से धारण करता है। जब का चौथा शिष्य हर जल प्रक्षेप के पश्चात् मुकुर को सिल्क वस्त्र से पोछता रहता है जिससे मूर्ति का प्रतिबिम्ब स्पष्टतया लक्षित हो सके। इस प्रकार १५ बार रखा जाता है। उस संग्रहीतजल के पात्र को यज्ञ वेदी पर रखा ाता है और उसमें पुनः शक्तिका सञ्चार किया जाता है। यह जल बाद में लामा को दिया जाता है जिससे दिव्य ज्योति का सञ्चार हाता हैं। गृहस्थ भक्तो को भी दिया जाता है जिससे उनकी धर्म आस्था दृढ होती है। ऐसा जल रोमन केथलिक सम्प्रदाय में भी भक्तों गृहस्थों को देते हैं।

Alice Getty : Good of Northern Buddhism P. XI, की भूमिका में J. Deniker द्वारा लिखित।

गंगाप्रयागगयपुष्करनैमिषाणि
पुण्यानि यानि कुरुजाङ्गलयामुनानि
कालेन तीर्थसलिलानि पुनन्ति पापान्
पादोदकं भगवतः प्रपुनाति सद्यः॥ नृसिंह पुराण ५९.४६.

प्रयाग गया आदि पुण्य तीर्थों का जल तो समय पर पाप निवारण करते है पर

भगवान का पादोदक तो तत्क्षण पुनीत कर देता हैं। मन्दिर में तीर्थ या चरणामृत लेने की प्रथा है। तीर्थ पदके अनेक अर्थ है। कोशों में तीर्थपद शास्त्र, अध्वर, क्षेत्र, उपाय नारीरज, ऋषिजुषाम्वु, पात्र, उपाध्याय, मन्त्री आदि अर्थों में प्रयुक्त है। तीर्थशब्द प्लवन या तरणार्थक तृधातु, से निष्पन्न है। नदी प्रहित क्षेत्रों को तीर्थ कहते है और प्रयाग को तीर्थराज। तीर्थंकर या तीर्थकृत् जैन सन्यासियों के प्रमुख का नाम है। शांकर संम्पादाय के सन्यासियों के दस नामों में तीर्थ एक नाम है जिसका लक्षण अवधूत प्रकारण मे इस प्रकार दिया है।

त्रिवेणीसंगमे तीर्थे तत्त्वमस्यादिलत्रणे
स्नायस्तत्त्वार्थभावेन तीर्थनामा स उत्यते ॥ प्राणतोषिणी.

सब प्रयोगों में एक अर्थ समान रूपसे देखने को मिलेगा वह है बाहर निकलना या उद्गम स्थान होना। गुरुभाई को सतीर्थ कहते है अथर्ति् एक गुरुमुख से निस्सृत ज्ञानामृत का पान करनेवाले। नदी जहां से निकलती हो वह भी तीर्थ है।

अनुशासन पर्व में यानि तीर्थानि भगवन् नृणां देहाश्रितानि
वैतानि में शंस भगवन् यथातथ्येन पृच्छतः
सर्व तीर्थेषु तीर्थज्ञ किं तीर्थं परमं नृणाम्
यत्रोपस्पृश्य पूतात्मा नरो भवति नित्यशः
देवर्षि पितृ तीर्थानि ब्राह्मं मध्येऽथ वैष्णवम्
नृणां तीर्थानि पश्चाहुः पाणौ सन्निहितानि वै
आद्यं तीर्थं तु तीर्थानां वैष्णवो भाग उच्यते
यत्रोपस्मपृश्य वर्णानां चतुर्णां वर्धते कुलम्
पितृ दैवत कार्याणि वर्धन्ते प्रेत्य चैवहि।

स्तोत्र

स्तोत्र भावसञ्चार है। मील का पत्थर यात्री को देश दिक् का ज्ञान देता है। इसी में दूरी समाई है। यहा से पूरव तीन मील यह अर्थ यात्री समझ जाता है। तदनुकूल आचरण करता है। इस अमिव्यक्ति से सभी परिचित है।

क्या मनुष्य जब पूजा करता है स्तुति-पारायण करता है, तो पत्थर की मूर्ति - भगवान मानव के बुद्धि स्तर पर कुध प्रतिफलित कर रहा है।

अमिव्यक्ति को जानने के दो उपाय है शाब्दिक एवं अशाब्दिक। शाब्दिक में

वाक्य लहजा सन्देह या प्रश्नवाचक चिह्न भी शामिल है। घर्म कभी दर्शको के सिंनेमा देखते देखते किसी संगीत विशेष को सुनते सुनते या कथोपकथन को सुनते सुनते आंखो में आंसू आ जाते है। नायक के प्रति सहानुभूति जताने केलिए परवश हो सहायता केलिए दौड पडते हैं। अभद्र व्यवहार पर कोध आना भाव सञ्चार या प्रतिफलन सब जानते हैं।

प्रेमप्रदर्शन केलिए गुलाब आदि फूल या मुद्रा प्रदर्शन अशाब्दिक भाव सञ्चार के समान है। कभी कभी दुकान में अभिप्रेत वस्तु को देखकर उसको खरीदने की इत्छा होती है पर उस पर लगी मूत्य-चिक्की को देखकर क्रयविचार छोड देते है। स्थगित कर देते हैं। यह स्थगन उस मूल्यचिट को देखकर उपजा प्रतिफल है। या चौराहे पर खडा सिपाही जब हाथ दिखाता है तो कार को रोक देते है या चलाते हैं। अतः अशाब्दिक अर्थग्राहिता मानव समाज में प्रचलित हैं। पीने के पानी मांगना हाथ दिखाकर या सिगरेट केलिए माचिस मांगना विना शब्द व्यवहार के मी आपामर अप्रबुद्ध सभी समझते है।

भावाभिव्यकि केलिए तीन प्रकार प्रायः काम मे लाये जाते हैं १ गणितीय, २ सामाजिकीय ३ भाषाविज्ञानीय। गणितीय के उदाहरण हमारे कम्प्यूटर है जो समाचार को पहुंचाते हैं। कभी केवल गणितीय ढंग से जैसे मौसम का हाल या भाषा की सहायता से ई-मेल वम्वई से मुनीम सेठजी को समाचार भेजता है इसमे केवल कुध अंक रहते है ३२५/११५०/५७ इत्यादि। ये किस शेयर के भाव हैं ये सेठ शेयर-कम्पनी के नाम के बिना जान लेता है। या जापान में बैठा पुस्तकाध्यक्ष वार्शिंगटन स्थित लाइब्रेरियन को किसी रसायनिक या भौतिक शास्त्र के समाचार को भेजता जो लाइब्रेरियन विल्कुल नही समभता - विद्वान को दे देता है अतः समाधान सही व्यति प्राप्त कर लेता है। यह गणितीय प्रकिया से सम्भव है। या टेपरिकार्डर में किस गति से शब्द स्वीकार किया जाय कि साफ सुनाई दे। शब्द का स्वर कितना उच्च हो और गति कितनी हो जिससे श्रवण के योग्य बनाया जा सके। ये गणितीय प्रश्न हैं। गाने का रिकाकीचूडियांर्ड किस गति से घूमे कि शब्द साफ सुनाई दे।

कोई जवान लडकी सडक के किनारे खडी हो-कोई जवान लडका या कोई वृद्ध स्पर्श कर दे तो कितने वेग से दोनों करें कि लडकी कुद्ध हो जाय। जवान और वृद्ध के स्पर्श वेग में लडकी को कोधित होने के कारण निहित है। कोध प्रकटन करने के कारण

भी। क्या इस लम्पटत्व को गणितीय भाषा में उतारा जा सहता है। यह स्पर्श भाषा है। शायद छींक कर किसी का शकुन बिगाडना या उसका प्रतिफल जानना। क्या साम्प्रदायिक दंगे इसी प्रकार के किसी भाषा गत विभेद के कारण हो - होली मे किसी मुसलमान के ऊपर रंग की छींट गिर जाय या किसी मस्जिद के सामने वाजे बेण्डका शब्द सुनाई दे - तब लोग सामूहिक रूप से क्यों भडक उठते हैं? प्रतिफल क्या सर्वत्र एकसा होगा। रंग रेज प्रायः मुसलमान हैं और बाजा बजाने बाला भी तब ऐसा प्रतिफलन - रंग या बाजे के शब्द से नही वरन् समाज या वर्ग गत मनोदैहिक या शुद्ध मानसिक वृत्ति का नाम है। परिणाम है। भाषा अनेक प्रकार के भाव प्रकाशके माध्यमों में एक है।

वृत्ति या मानसिक स्थिति का विचार करना होगा। व्यक्तिगत मानसिक विचार या वर्गगत मानसिक विचार सेना अधिकारी अत्यन्ता तार या कर्कश स्वर से ही आज्ञा देते हैं जब कि भगवान के सामने खडे होने पर या, माता अपनी पुत्री से रूमाल अत्यन्त फुसफुसाहर से मांगती है ऐसा क्यों उभयत्र साधारणभाषा का वेग क्यो परिवर्तित होगया? कुएं का पानी पानी है गंगा का पानी जल है। बीडी वंगाली खाते हैं हम पीते हैं।

जब शंकराचार्य भाषण देते है तो अनुग्रह करते है और राजनेता सम्वोधित करते है। ऊर्ध्वगामी और पार्श्वऽगामी शिरचालन मे उत्तर दक्षिण मे विपरार्थबोध होता है। पार्श्व शिरस् चालन का अर्थ दक्षिण मे सकार है तो उत्तर मे नकार।

तब भाषा में तीन प्रकार देखे जा सकते है -भाषागत चिह्न जैसे कारक, वचन, पुरुष। इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है कार्यकारण सम्बन्धतर्कर्नुगंत भाषा है। एक सम्बन्ध को बताते है। पिता का स्त्रीलिंग माता क्यों होता है दादा का स्त्रीलिंग दादी के समान पिती क्यों नहीं होता। यह भाषाका भाषाके साथ सम्बन्ध है।

अर्थप्रकिया में भाषा का सम्बन्ध वस्तुओं से दिखाया जाता है। चाकू भौक दिया। प्रणाम किया। खेत दोहरा दिया। भौकनां चाकू का ही होता है। या किसी तेज नोकवाली वस्तु का। प्रणाम को साधारण गुडमार्निंग या सुप्रभात नहीं कह सकते। देवता या तत्समान आदरणीय व्यक्ति के प्रति प्रकाशित आदर भाव एक आकार विशेषकी क्रिया है। हल को दूसरी बार चलाने का क्रिया विशेषण के अर्थ मे किया है। यह सम्बन्ध कारक सम्बन्ध या स्थानगत सम्बन्ध नहीं है। राम ने रावण को मारा। रावण ने

राम को मारा। यहां पर राम और रावण का स्थान परिवर्तन कर देने से अर्थ बदल गया है। हां सस्कृत की तरह 'ने' तथा 'को' को यदि कारक चिह्नमानकर शब्द का ही एक अंश मानें तो अर्थ परिवर्तन नहीं होगा। अंग्रजी और संस्कृत के उदाहरणों से यह विल्कुल स्पष्ट हो जायगा - रामः रावणं अहनत् रावणं रामः अहनत्। संस्कृत में स्थान बदलने के बाद भी अर्थ परिवर्तन नहीं हुआ क्यों कि कारक चिन्हों ने अर्थ प्रकाश को दबा दिया। तब न केवल शब्द और उसके अर्थ सम्बन्ध को वरन् शब्द शब्द सम्बन्ध को भी देखना पडेगा। जैसे इस उदाहरण मे कारक गत सम्बन्ध। विशेषण भी सम्बन्ध और उसमे लिंग सम्बन्ध है। हिन्दी में किया भी लिंगधारण करती है।

हिन्दी मे इदरनि तथा रेडियों मे लिंग के अज्ञान के कारण भारी भूल करते है। मै विधुर होगया कहने के स्थान पर मै विधवा हो गया कहते हैं क्यों कि विधुर - विधवा के पुंल्गि रूपसे परिचित नहीं है। सभापति के स्थान पर समापत्नी नहीं कहते यद्यपि व्याकरण द्दष्ट्या यह शुद्ध है पर सभानेत्री कहते है पर प्रधानमत्री पद नही बदला यद्यपि क्रिया मे स्त्रीलिंग का ही प्रयोग करते हैं। यद्यपि स्त्रीलिंग क्रिया में या कर्ता में दिखाना काफी है दोनों जगह क्यों दिखाया जाय। और विशेषण में दिखाना तो और भी व्यर्थ है। हिन्दी मे तो सम्बन्ध कारक में भी दिखाते हैं। अतः भाषा की प्रवृति के साथ मेल नहीं खाता।

तब अर्थ परिग्रह - लक्षणा व्यञ्जना ही नहीं पर परस्पर चिहों के सम्बन्धों का भी जानना आवस्यक है।

आजकल सम्पादन कला भी एक कला है। अनेक विद्वान मिलकर एक पुस्तक लिखते है। उस मे एक रूपता आवश्यक है। कारक चिन्हों को संज्ञा के साथ मिलाया जाय या नहीं - संयुक्ताक्षर पञ्चमान्त हो या अन्यथा विराम अर्द्ध विराम कहां दया जाय अनुच्छेद कहां तोडा जाया विदेशी शब्दों को कैसे लिखा जाय अंग्रजी मे इसको कहते है और पर्चो की सम्पादन कला को खाली जगह का उपयोग भी सहायता करता है। सङ्गति एवं सम्बन्ध का अब विशेषध्यान रखा जाता है।

इगलैण्ड में रानी ने रिक्वेस्ट पद का प्रयोग करते हुए एक आज्ञा जारी की। व्यक्ति हाजिर न हुआ। हाजिरन होने पर मुकदमा चला। कचहरी ने निर्णय दिया कि राणी का प्रर्थना पद प्रयोग भी आज्ञा वाचक है। वैसे सम्मान जनक बहुवचन अनेक

भाषा प्रयोगों मे है। सरकारी अफसर जब हिन्दी लिखता है तो वह भाषा - एक अलग भाषा है और शैलीगत वैभिन्य संचारगत माध्यम मे एक टकराव की स्थिति है। अतः संस्कृत मे न्यायशास्त्र की भाषा और काव्यकी भाषा मे अन्तर है। चिन्हों का परस्पर सम्बन्ध की तरह प्रायः ज्ञात है या होना चाहिए।

अर्थ प्रकाश और सञ्चार प्रक्रिया मे अन्तर है। कुध लोग अर्थ को ही प्रधान मानते हैं तो कुध लोग सञ्चार प्रक्रिया को। एक कहानी है।

बगदाद मे एक विद्वान रहता था। राजा की या राजा के दरबारियों की किसी की परवाह नहीं करता था। अतः राजा और दरबारी उस से सदा अप्रसन्न रहते थे। उसे किसी न किसी प्रकार जेल भेजन का उपाय सोचते रहते थे।

एक दिन किसी शिष्य ने आने जाने की सुविधा केलिए गुरूजी को एक गधा दान में दिया।

आजकल ही मोटर चलाने केलिए लायसंस की आवश्यकता हो ऐसा नहीं है। उस काल मे भी गदहे पर सवारी करने केलिए लायसेंस की जरूरत थी।

गदंहे पर सवारी के परीक्षण के लिए एक दिन मुकर्रर किया गया। तामझाम के साथ राज्य के अनेक अधिकारी गदहे की सवारी का टेस्ट लेने के लिए नियत समय पर राजप्रासाद के सामने इकट्ढे होगये। गुरूजी के राजद्वेष से सभी बगदादवासी परिचित थे। जन सम्मर्द राज पराजय देखने के अदम्य कुतूहल से भारी संख्यां मे उपस्थित थे। गुरूजी कोई चमत्कार दिखायेंगे और फिर राजा को मुंहकी खानी पडेगी यह विश्वास लोगों मे था।

नियत समय आया। गुरूजी और गदहा परीक्षा के लिए उपस्थित किये गये। सीटी बजाई गयी। दर्शकों की तुमुल ध्वनि से आकाश गूंज उढा। दर्शकों की किलकारी और तालियों की गडगडाहट ने गुरूजी का उत्साह संवर्द्धन किया।

सीटी बजते ही गुरूजी उछल कर गदहे पर बैठ गये पर पूंछ की तरफ मुंह करके। दुलत्ती मारते गधा को मुंह की ओर से पकडे या पूंध की ओर से। विलम्ब होते देख अधिकारी ने कर्कश स्वर मे गदहे को पकड ने के लिए तीव्रगति से भागे और गदहे को चारों ओर से घेर कर खडे होगये। गदहा घबडा गया इस रभस में कुछ को दुलत्ती भी लगी।

गुरूजी पर आरोप सिद्ध होगया। गदहे की सवारी करना नहीं जानते अतः सवारी का लायसंस नहीं मिलेगा।

राजदरवार मे मुकदमा चला। आरोप पढकर सुनाने के लिए कहा गया। आरोप था गदहे की पूंध की ओर मुंह करके बैढना। आर्थत् गन्तव्य स्थान की विपरीत दिशा में यात्रा करना गुरुजी को अपना प्रक्ष प्रस्तुत करने के लिए कहा गया।

गुरुजी कहा- मैं और गदह अलग अलग व्यक्ति है। अतः आरोप संकर नहीं होना चाहिए। जिस ने अपराध और अपराध को जान लेना चाहिए असमे संकरे नहीं होना चाहिए।

मैं तो अपने गन्तव्य स्थान की ओर ही मुख करके बैठा था पर गदहा तो गदहा है उसको यह जानने की तमीज कहां है कि गन्तव्य स्थान की ओर ही मुंह करके चला जाय। वह आपके नियमों की परवाह नहीं करता।

और रही बात दुलत्तियों की। जो अधिकारी अपने आप को गदहे की दुलत्तियों से भी नहीं बचा सकता वह तो गदहे से बदतर है उसके ऊपर राज्यकार्य का उत्तरदायित्व सौंपना गदहे से भी बदतर होना हैं।

राजा के पास गदहे को दण्ड देने के लिए कोई विधान न था और गुरुजी को दण्डे देने के लिए कोई अपराध सिद्ध नहीं होता था।

आज के युग में यदि सम्बन्धों का ज्ञान होता तो तो राजा तुरत कहता- क्यों कि गदहा तुम्हारा है अतः तुम दण्डके भागी हो। स्वामी- सेवक सम्बन्ध। न केवल प्रातिपदिक और क्रिया का अर्थ ज्ञानआवश्यक है वरन् उनका अर्थो का सम्बन्ध भी। आदमी दुलत्ती नहीं मार सकता अवश्य गदहा ही मार सकता है अतः आदमी दुलत्ती मारता है- यह कहना आग से सींचता है। अग्निना सिंचति यह कहने के बराबर है।

चौथा सम्बन्ध मानव और दैवता के बीच है। अर्थ अभिधा लक्षणा व्यञ्जना से जाना जाता है। ये अर्थ प्रकाश की एक के बाद एक काम करती हैं। नयी वृत्तियां चिह्नों का परस्पर सम्बन्ध चिह्नो का पदार्थो का सम्बन्ध तथा चिन्ह और पदार्थ मानवों से समाज से कैसे सम्बधित है यै तीनों सम्बन्ध तीन प्रकार के हैं। पदार्थ या मानव का ज्ञान नहीं कराते। पर मानव और पदार्थो के ज्ञान में तीनों सहकृत होकर समकालिक रूप से या अनुक्रमरूप से सहायक होते है।

जैसे सरकारी विभाग विभाग की भाषा में अन्तर है वैसे ही धर्म में सम्प्रदाय की भाषा की अन्तर है। यदि शब्दों को अर्थ पैदा करने वाले चिह्न मान लें तो आवश्यक अर्थ पैदाकरने वाले शब्द समूह है जो तत्तत् सम्प्रदाय की बोली बोलेगे जैसे वैष्णव सम्प्रदाय में जीव को दास मोक्ष को सारुप्य या सायुज्य आदि। मकरट कपि की उपमा शरणागति स्वप्रययत्न -परप्रयत्न आदि। यही अद्वैत वैदान्त में तत्त्वमसि सच्चिदानन्दघन आत्मपरमात्म मिलन या सखी भाव बताने वाले पद उपयुक्त है। सेवा पद भगवान की पूजा में प्रयुक्त है तो स्मार्तों में सेवा का अथ समाज सेवा है। इस अर्थ में वैष्णव स्तोत्र या पुराण एवं शैव स्तोत्र या पुराण पद प्रयुक्त हैं। क्यों किस वर्ग का व्यक्ति किस वर्ग के व्यक्ति से बोल रहा है और दोनों वर्गों में समानार्थक पद व्यवहार में आते है कि नहीं यह जानना अवश्यक है। इस प्रकार अर्थ के चिह्न तथा प्रकाशित अर्थ के सम्बन्धों को भी जानना अवश्यक है।

शंकारचार्य ने विष्णु सहस्त्रनाम पर टीका की है। टीका में धात्वर्थ को प्रधान मानकर अभिधेय खुलासा किया है। पर पाराशर ने अपनी टीका में उन्ही पदों का विशेषण के रूपमें अर्थ दिया है। अतः एक ही पदका अर्थ दो प्रकार का हो गया। अतः अर्थों के आपसी सम्बन्धो को जानने के लिए जिन चिह्नो की आवश्यकता है उनका अर्थ जानना भी जरुरी है। जिन चिह्नों की आवश्यकता है उनका इसी अर्थ में शब्द का और अर्थ का सम्बन्ध उस वर्ग से रहता है जिस वर्ग की प्रक्रिया जैसे मैथिल लोग नदी दिशा में गये थे का अर्थ पुरीशोत्सर्जन करते हैं अन्य सम्प्रदायों में भी पैर धो लिया का अर्थ मूत्र विसर्जन करते है पश्चिम में जंगल गये थे आदि पद प्रयुक्त है अतः वर्ग विशेष के वक्ता और श्रोता को ही सही अर्थ में अर्थ ज्ञान होता है क्यों कि वहां उस वर्ग में प्रचलित और सांस्कृतिक परिभाषाओं उपयुक्त अर्थ तथा उस तकनीक को जानता है जिस तकनीक का सहारा लेकर उस सम्प्रदाय के अशित अर्थ प्रकाश प्राप्त कर सकते हं। जैसे तर्क का पञ्चावयव वाक्य अनुमान को सिद्ध करता है अनुमिति नूतन ज्ञान है और यह अवयव वाक्यों की परस्पर स्थिति के परीक्षण से प्राप्त है।

वेष्णव भक्त नाम तिलक लगाकर भगवान का दर्शन करने के लिए जाते हैं मानों यह कोई कारक जिह्न हो जैसे क्रिया में कर्तृ विवक्षा रहती है वैसे भगवान भी भक्त को पहचानते हैं। क्यों कि परमपिता हैं।

अर्चक पूजा के मत्रों का पाठ कर सकता है सही या गलत यह विषयान्तर है। पर

क्या भक्त दर्शनार्थि के अन्दर स्थित भक्ति भाव की घनसान्द्रता को भी पंहुचा सकते है ? पूजा विधान में ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं है जिससे यह जाना जा सके कि पुजारी भक्त स्थित भक्तिभाव को भी देवता तक पंहुचा सकते हैं। जैसे कम्पूटर में गणितीय फार्मूला क्या अभिधेय है इसकी परवाह नहीं करता पर कैसे समाचार या सूचना अंकीय चिन्हों सेव्याकरण तथा संस्कृतिक सिद्ध अर्थो तक किस तत्र से पंहुचाया जाय?

भाव उन्नयन और सञ्चार या प्रापण व्यक्तिशः समूहिक दोनों प्रकार से होता हैं। व्यक्तिगत भगवत्प्रेम या शरणागति को यात्रा या उत्सवमें जन सम्मर्द के भाव को या शुक्रवार की नमाज के बाद का जनसमूह का सम्बोधन अर्थ प्रकाश के लिए किसी विशेष तान्त्रिक प्रक्रिया पर निर्भर है।

क्या अंग्रंजी और पूजा का दोनों संस्कृतियों में एक ही अर्थ है पूजा प्रक्रिया की षोडशोपचार पद्धति चर्च प्रयुक्त पद्धति से भिन्न है। दुकानदार से लिए सामान का बाकी या वकाया कर्जजो कि साहुकार से लिया अलग श्रेणी है। तीनों के कर्ज उगाहने या बैंक से लिया गया कर्जा तो अलग वसूल करने के परिभाषिक अर्थ में अन्तर हो सकता पर वसूलना सर्वत्र समान है। जैसे ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन सभी संस्कृतियों में समान हो सकता है पर उस भाव को जैसे ईश्वर को पंहुचाने की प्रक्रिया में अन्तर है। कालिदास ने विरहिणीछन्द का प्रयोग रघुवंश तथा कुमारसम्भव दोनों में किया है। विरह का प्रयोगया वर्णन शब्दों के अपप्रास यति का प्रयोग किमु रोदिमि रारटीमि किं इत्यापि में . स्वर एक अर्थ प्रकर्ष को पैदा करते हैं। गृहिणी सचिवः प्रियःसखा प्रियशिष्य ललिते कलाविधो क्या विरहकातखाणी इन्दुमती ने सुनी?

बच्चा गर्भस्थ अवस्था में माता के शरीर से अत्यन्त प्रभावित रहता है। पोषण स्पर्श शसप्रशस प्रक्रिया की गतिशीलता- और गर्भस्य अवस्था के इन्ही अभ्यासों के साथ बाहर आता है। वातावरण उसको सांस लेने को बाध्य करता है तब भी गर्भस्थ अवस्था में अम्यस्त गति से ही खास लेता है। वातावरण के भार को सहन करना सीखता है। माता के कोशस्थित अबस्था वत् सर्दिगर्मी सीखता है। माता चर्मप्रकृति-प्रतिक्रिया सीखता है। माता को दूधके पीने के अभ्यास के छोड देने के बाद भी पूर्व अभ्यासों को बालक भूलता नहीं है। माता का वह स्पर्श? आसहायता के क्षणों की बस याद दिलाता है।

माता बच्चे को थपथपाकर सुला देती हैं। निद्रा का स्वभाव क्या है यह यहां का आलोच्य विषय नहीं है। पर माता का थपथपाना उस लय को अनुभवगम्य बनाता है जिसका बच्चा गर्भस्थ अवस्था से अभ्यस्त है। माता भी थपथपाने की उसी काल गत दूरी को (ताल) बनाये रखती जो उसका स्वभावगत है। अतः बच्चा रोना भी बन्द कर देता है और सो भी जाता है। क्यों कि स्वभाव से परिचित ताल में अपनापन जो है।

और माता का वह कण्ठ। संगीत की राग रागनियां न बुनसकती हो पर हृदय बच्चे के हृदयको प्रभावित करने वाला स्वर वितान का विस्तार करती हैं। जैसे बीन काशब्द सुन कर नागराज, संगीत सुनकर मृग शावक परिसर को भूल जाता है वैसे बच्चा भी परिसर के भूलकर आत्ममय हो जाता है वैसे बच्च भी विना प्रयास समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति आत्मो न्मुख हो जाती हैं। वृत्ति ज्ञान श्लथ। और बच्चा शुद्ध बुद्ध स्वभाव निर्द्रित।

क्या बच्चा माता के गन्ध को पहचानता है? गन्ध ग्राहिता यदि गाय का बछडा पैदा होते ही सीख सकता है है तो मानव शिशु न जाने? मानव परिमल की वह सुवास शायद बच्चे के लिए एक मादकता का जन्म दती है जो उसे स्वाभाविक पादादि अकारण चालन विधि रोकने से परवश करती हैं।

अर्थप्रकाश परबोध्यहो यह आवश्यक है। स्चात्म प्रकाशित अर्थ में अभिधेयात्मकता का अभाव रहता हैं। या परप्रत्ययात्मकता का अभाव रहता है। जब तक निर्भर को व्यक्ति देखे नहीं ज्ञान उसको नहो तब तक निर्भर का होना न होना बराबर है। वस्तु की सत्ता व्यक्ति के ज्ञान के कर्मभूत होने में है। ईश्वर ज्ञानमय हैं। ईश्वर को क्या ज्ञान होता है। ज्ञान प्रक्रिया इन्द्रिय वृत्ति विशेष पदार्थ आदि के संयोग की अपेक्षा रखती है। इस ज्ञान प्रक्रिया के लिए अपेक्षित वृत्तियां नतो ईश्वर पास है और नहीं देश काल वाध्यता तब ईश्वर का ज्ञान अन्यवस्तुओं के ज्ञान से समान नहीं है। यह साक्षात है इन्द्रिय सहकृत नगीं वृत्ति पुष्ट नहीं।

स्तोत्रं कस्य न तुष्टयें इस उक्ति से सभी परिचित हैं। चापलूसी से सब काम निकालने के तरीके जानते हैं। पर क्या विश्वसाक्षी भी स्तोत्र से परवश हो सकता हैं?

भक्तिः एक गीतगुण
देवतां श्रुतिसंयुक्तं तत्प्रभावप्रवोधकम्॥

आस्तिकोत्पादनं गीत स्तोत्रं भक्तजनप्रियम् सोभे? सोमेश्वर.
जो गीत आस्ति कता उत्पादंन कर वहस्तो य हैं।

स्तुति

स्तुति मुख्यतया भगवान के आगे आत्म समर्पण है। जैसे भूखा मनुष्य रोटी के लिए कातर हो कर कुछभी करने के लिए तैयार हो जाता है वैसे ही आत्मा की भूख भगवान के सन्मुख शरणागत हो जाती है।

स्तोत्र प्रायः दो विषयों के लिए होते है १) या तो मानव इस सांसारिक प्रयोजन के पूरणार्थ कुछ मांगता है या फिर २)मुझे आपका दर्शन मिलता रहे अर्थात् मेरी आत्मा की भूख सदा मिटती रहे। प्रथम भीरव का स्वरूप वस्तु विषयक है जवकि द्वितीय का कर्म विषयक। प्रथम में राजपाट धनदौलत पुत्र पौत्र आदि मांगते है तो द्वितीय मे आत्मा की स्वच्छता भगवद्गुणकीर्तन के प्रति आस किया भगवत्सन्निधि ऐसा कुछ मांगते हैं।

२४ घण्टे भगवत ध्यान करने वाले सन्त हैं। सूफी तो रोते हैं। शायद पैट की आग से अधिक बलवत्तर है आत्मा की आग। पर सांसारिक मनुष्यों को अस्थिचर्ममय देह को फुरसत कहां हैं संसारर्णव निमग्न और नीचे और नीचे जाता है बडी मुश्किल से स्नान पश्चात् प्रातराश आने में जो चार मिनिटका विलम्ब होता है उसका उपयोग पूजा घर में बैठकर शायद माथे पर तिलक लगाकर कुध स्तोत्रोंको पाठ कर लेते हैं।

जैसे अन्न ही खाया जा सकता है सूखी लकडी नहीं बैसे भगवान की स्तुति मे प्रास अलंकारो की या शब्दाडम्बर की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है हृदय की, प्रणिपात की। 'तवास्मीति' कहने की और तदनुसार काम कार्य करने की।

इस से आत्मा के ऊपर चढी सांसारिक मलकी परत धीरे धीरे अपगत होने लगती है। यथादर्शो मलेन च।

सूर्य चन्द्र अपने समय पर अपना काम करते है। इसलिए कि समस्त जीवप्राणी अपने अपने काम मे लग सके। किसी की सिफारिश की आवश्यकता नहीं है। तब परमात्मा मनुष्य से प्रार्थना की अपेक्षा क्यों रखता है? क्या परमात्मा सर्वज्ञ नहीं है? क्या बार बार जीव को याद दिलाने की आवश्यकता है? नहीं। परमात्मा को याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है। वह तो सब जानता है। तब प्रार्थना क्यों?

मानव अति बलवान है। पर तूफान, बाढ, भूकम्प, महामारी के आगे लाचार है। सारी इन्द्रियों के रहते भी मनुष्य कमजोरी के कारण हाथ से पानी नहीं पी सकता और मृत देह -जिस देह में से परमात्मा का अंश लुप्त हो गया है। उसको तो जल्दी से जल्दी घर से निकालने के लिए त्वराप्रयुक्त रहते है तब परमात्मा के बिना व्यक्ति की कोई शक्ति नहीं यह बराबर स्मरण करते रहने के लिए प्रार्थना आवश्यक है। वही शक्ति है जो फल साधक है और फलसाधकशक्ति जहां अधिष्ठत है वह ईश्वर है। मुद्रा -सील को कहते है राजमुद्रा जिस मे सारा अधिकार है। विना मोहर मुद्रा या सील के किसी भी राजाज्ञा में कोई अधिकार नहीं रहता अतः भगवान से भक्त प्रार्थना करता है।

बोधयतु मां मुद्रावता पाणिना -दक्षिणाम्मूर्ति स्तोत्र। हे भगवान मुझको बताओ हाथ से मुद्रा सहित हाथ से अब इस परिस्थिति मे क्या करना है?

जब हम स्तुति करते हैं तो वाणी अपना काम करती है। जिह्वा या स्तौति पर केवल स्थूल इन्द्रिय द्वारा तो स्तोत्र पाठ नहीं होता। ईश्वर अनन्तशक्तिमान है और मानव उसको शक्तिमान कहे या न कहें ईश्वर को उससे कोई अन्तर नहीं पडता पर मानव जब स्तुति पारायण करता है तो उस दिव्यांश से सम्पर्क होता है मानो स्विच दबाया गया और मुख्य(मेन) लाइन से संपृक्त होगया। प्रकाशपुञ्ज आलोकित हो उठा। व्यक्ति के स्तोत्र-पारायण के लिए उद्यत होते ही एकं दिव्यस्पर्श देह मे देवत्व को उदीप्त कर देता है। क्यों कि वही अन्तः स्थित है। उस अन्तः स्थित दिव्यतेज से सम्पर्क ही उन्मनी अवस्था है। बह अवस्था जो प्रभाभास्वर है।

बुद्धि और हृदय आनन्द की अनुभूति में सहायक होते हैं।

देवताओं के प्रति प्रणति भारतीय जीवन की एक विशेषता है। आध्यात्म के विषय में ही नहीं वरन् गार्हस्थ्य सम्बधित अनेक कार्यों मे देवप्रार्थना की जाती है। तब कोई कार्य धर्मनिरपेक्ष नहीं है। देवकृपा सर्वत्र मांगी जाती थी।

क्या सहायता की अपेक्षाकी जाती थी?

गुणैश्च गुणिनः सम्बन्धप्रतिपादनं स्तुतिः — ऋ १.१.१.पा.
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोधिकतमो मतः
यद् भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चन्नरः सदा? — विष्णुसहस्रनाम.

मानव जीवन अतिमूल्यवान् है। आत्मानुभव या धार्मिक अनुभव मानव का अतिप्रशस्त परमपुरुषार्थ है। ऐसे महत्त्वपूर्ण तुरीय चरम और परम प्राप्तव्य को किसी पुजारी या अर्चक के उपदेश या मार्ग निर्देश पर छोड देना कोई समझदारीका काम न होगा विशेषतः जब यह जीवन प्राप्त करना हमारे हाथ में नहीं है। यह अपुनरावर्ती है, इसलिए जो करना है वह अभी सोच समझकर करना चाहिए क्यों कि धार्मिक स्वानुभव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनुभव है। यह अनुभव इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि यह रहस्यमय है और अपनी इच्छासे मानव इसे दोहरा नहीं सकता। इसको दूसरों से (भृत्यादि द्वारा) इन्द्रियों के माध्यम से भी प्राप्त नहीं कर सकते अतः स्वयं ही अनुभव करना पडता है। यह वह आध्यात्मिक रहस्य है जो सहज प्राप्त नहीं होता और किन्ही क्षणों में अल्पकालिक लोकोत्तरआनन्द अविस्मरणी यतया प्राप्त होता है।

बाह्य क्षणभंगुर सांसारिक जीवन की अपेक्षा आन्तरिक आत्मिक जीवन अधिक दृढ एवं प्रशस्त है। वही नित्य अजर अमर है। वही आत्मा शरीरधारी जो शरीर के पुराने होने पर जीर्ण वस्त्र की भांति फेंक देता है। उस जीर्ण शरीर का जीर्णवस्त्र के समान जूता आदि पोंछने मे भी उपयोग नहीं है अतः उसे नष्ट करदिया जाता है। जलादिया जाता है या दफना दिया जाता है। ऐसे महत्वपूर्ण आत्मिक अनुभव को अर्चक के ऊपर छोड देना अर्चक के गुण विशेष सामर्थ्यसम्पादन चातुर्य को रव्यात करता है। वैखानस सम्प्रदाय में अर्चक का विशेष स्थान है क्यों कि उस दिव्य अनुभव का महत्त्व जानकर देवभृत्य का कार्य सहज कर देता है।

शरीर थर्मामीटर की तरह काम नहीं करता। ताप का नाप उन परिस्थितियों में संगृहीत किया जाता है जिन में शरीर की स्थिति सदा एकसी नहीं रहती। अतः अर्चक का उपदेश सदा एक तरह काम नहीं करता। अतः शरीर को अन्य जडपदार्थों की तुलना में समान नहीं किया या माना जा सकता है। क्यों कि शरीर की प्रतिक्रिया थर्मामीटर की प्रतिक्रिया नहीं है। थर्मामीटर एक प्रतीक को लेकर काम करता है जब कि शरीर जीता जागता वस्तुनिष्ठ तत्त्व है। काल्पनिक प्रतीक नहीं। किसी परिच्छिन्न परिस्थिति का स्थानापन्न संकेत।

अर्चक

जीयर - प्रथमपुरुष -आचार्य पुरुष या प्रधान पुरुष ऐसे कुछ पदों का प्रयोग किया जाता है, जिस मे दो पद मुख्य हैं अर्चक और जीयर।

ईश्वर परम शक्तिशाली है। जगन्नियन्ता है। जगदात्मा है। वैष्णव सम्प्रदायों ने ईश्वर की इस कल्पना के साथ एक और स्वरूप जोड दिया है - वह है मानव के कल्याण का उत्तरदायित्व।

भगवान बुद्धने कहा है - 'सब्बे तसन्ति दण्डस्स' सब लोग दण्ड से डरते हैं। उस दण्ड को देनेवाला ईश्वर ही है। पर वह कैसे दिया जाता है? इसका अध्ययन करने के लिए ही जीयर अर्चक या ऋषि हैं। मनु ७.१४ में लिखा है कि दण्डब्रह्म तेजोमय है - ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ।'स राजा पुरुषो दण्डः ... ... धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः' ७.१७ लोक में राजा ही दण्ड है और धर्म का उद्गमस्थल है। दण्डपद प्रमुखतया - यम, मानभेद, लगुड, दम, सैन्य अर्थ में प्रयुक्त है। दण्ड पदका यम और दम दोनों अर्थों में प्रयोग है अर्थात् लोग जिस नियम से अपना अपना काम करते है और कामकरने मे प्रवृत्त होते हैं उस नियम का नाम दण्ड है। इस नियम का नियन्ता चरम नियामक ईश्वर है। धर्म ही दण्ड है। यमराज का अपरनाम धर्मराज भी है।

इस धर्म के के दो भाग हैं। निर्वाहक और नियामक। नैतिक भाग के अधिकार का प्रयोग जीयर तथा लौकिक भाग के अधिकार का प्रयोग राजा को है। यमराज का नाम भी दण्ड है। यह शक्ति-दण्ड देने की शक्ति-धार्मिक और सांसारिक आध्यात्मिक और आधिभौतिक सुखों की भी याचना भगवान से करते हैं। अतः सामर्थ्य न केवल धार्मिक वरन् लौकिक भी होना चाहिए। इस अर्थ मे स्वर्ग नरक या औध्र्व दैहिक त्रास-तोष के पश्चात् संसार के सुखदुःख आते हैं। दैहिक और मानसिक जिन के लिए यह आवश्यक है। कि वैदिक नियमों का आविष्कार किया जाया। शक्ति का स्रोत बनाये रखने केलिए यज्ञ यागदि पूजा इत्यादि जिस मे प्रकृति का सामर्थ्य भी सम्मिलित है, उसका नियन्त्रण है। प्रकृत के नियम और नियन्त्रण के नियमों की रक्षा, उनपर विचार करने के लिए धर्म तथा धर्मशास्त्रका उद्धव और विकास हुआ। लोक मे व्यवहृत धर्मशास्त्र शब्द अंग्रेजी भाषा के लाया कानून पदके अर्थ में व्यवहृत है। पर धर्म के साथ जब धर्मशास्त्र पद का व्यवहार करते हैं तो 'ला' पद का पर्याय धर्मशास्त्र नहीं हो सकता यह

स्पष्ट समझमे आ जायेगा। यह धर्म का शास्त्र है जिससे सारे संसार के कार्यजात सम्पन्न होते हैं, नियन्त्रित होते हैं। वह शास्त्र है जो केवल जानमाल के खतरे भरको चोर उच्चक्कों को या परस्त्रियों के मान भंग करने वालों को दण्ड देने मात्र का शास्त्र नहीं है। तब अर्चक उस धर्म या दैवी शक्ति की प्रयोग परम्परा की, कारण-कार्य सम्बन्धी नियमों की, प्रयोग-विधि-संरक्षण, वर्गीकरण, फलानुबन्ध, संगठन आदि कार्यो को देखते हैं। अर्चक पूजा करता है पर पूजा का दर्शन भी देखता है। यही है अर्चक का दायित्व। पूजा के माध्यम से सम्पाद्यमान दैवीकृत्यको वशमे रखना। इसी का नाम है पौरोहित्यविज्ञान। पहिले ही से पुरा +हित को जानकर, करने का विज्ञान व तन्त्र। वैखानस सम्प्रदाय में तो जैसे ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों को देखा, वैसे ही वैखानस ऋषियों ने सूत्रों को देखा। तब अर्चक का स्थान ईश्वर-मानव (भक्त) के बीच की कडी है। वह नैतिक धार्मिक नियमों का ज्ञाता है। जिन नियमों मे ईश्वरीथ आज्ञाओं का पालन किया जाता है उनका अभिप्राय ज्ञापन भी वही करता है। तब वह जो कहता है वह ईश्वरीय आज्ञा के अनुकूल कहता है। तत्परक व्याख्या करता है।

क्या ईश्वर मात्र मानव के लिए है ? मानव सबसे उत्तम माध्यम है करुणा का दया का। जैसे पौधों को पानी खाद देनेपर हरे भरे दीखते हैं वैसे ही मानव करुणा दया दिखाने पर उसका प्रतिफल दिखाते हैं। पर वैखानस सम्प्रदाय जो सबसे कम प्रतिफल दिखाने योग्य माध्यम है -यानी पत्थर -अर्चाविग्रह का माध्यम उसके द्वारा करुणा विस्तार का विलास बताते हैं। वही है करुणामूर्ति - दयासागर -अर्चाबेर।

जब कि अद्वैत जगत् के बाहर ईश्वर की कल्पना करता है वैखानस सम्प्रदाय जगत् में ही करता है। किसी एक वस्तु में ईश्वर नहीं है वरन् समस्त जडचेतन वस्तुओं के समन्वित सामूहिक रूपका नाम ही ईश्वर है। वह सर्वव्यापी है। अन्तर्यामी है। अथति् इन समस्त वस्तुओं मे अन्तः बहिः स्थित है, इनके परस्पर सम्बन्धों में है और इन से बाहर भी है। ईश्वर नियामक है नियन्त्रित नहीं।

ईश्वर एक अनुभव है अंक गणित का प्रश्न नहीं जिसका उत्तर मिल जायगा या कोई राजनैतिक या आर्थिक समस्या नहीं जिसका समाधान सम्भव हैं।

अर्चना नवनीत मे अर्चक के लक्षणदिये हैं जो इस प्रकार हैं -

वैखानस सूत्रेण निषेकादिक्रियान्वितः।

आध्यात्मगुणसंयुक्तो नित्यस्वाध्यायतत्परः।
वृत्तवान् सत्यवादी च स्नानशीलश्च योगवित्।
गृहस्थो ब्रह्मचारी वा भक्त्यैवार्चनमारभेत्।
यथोपनयादग्नौ समिदाधानमर्हति।
तथोपनयनादूर्ध्वं विधिनाऽर्चनमर्हति।
प्रतिष्ठामुत्सवं कर्तुं ब्रह्मचारी समर्हति।
ऋत्विगुक्तगुणैर्युक्तः योगज्ञो भक्तिमानपि।
अर्चकस्सुप्रसन्नात्मा हरिरेव न संशयः।
योऽर्चयन्ति सदा विष्णुं न ते प्रकृतमानुषाः।
विष्णुलोकादिहोत्पन्नाः ते देवा विनात्रसंशयः।
अर्चकस्य तु यद्रूपं नद्विष्ण्वशंचरात्मकम्।
अर्चकस्य तु यद्वाक्यं तद्विष्णोर्वाक्य मुच्यते।
रूपद्वयं हेरर्प्रोक्तं बिम्बमर्चकमेव च।
अत्र वैखानसं विप्रं तत्त्वार्थविदुषां वरम्।
परिचर्यापरं विष्णोर्याचकं ध्याननिष्ठितम्।

अर्चक के लक्षण :

वैखानस सूत्र से ही निषेकादि संस्कार सम्पन्न हुए हो आध्यात्मगुण सम्पन्न हो नित्य स्वाध्यायतत्पर हो शीलवान हो सत्यवादी हो स्नानशील हो और योग का ज्ञाता हो। चाहे गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी हो भक्तिपूर्वक ही पूजा करनी चाहिए। (तब वानप्रस्थ और सन्यासी का पूजा मे अधिकार नहीं है) जैसे समित् के पास लाने से ही अग्नि का आधान सम्भव है वैसे ही उपनयन हो ने के पश्चात् ही वटु का पूजा करने का अधिकार है। प्रतिष्ठा और उत्सव करने के लिए भी ब्रह्मचारी अर्ह है। ऋत्विक् के लिए जो गुण कहे गये हैं उन गुणों से युक्त होना चाहिए। योगवित् पहिले ही कहा गया है यहां योगज्ञ कहा है। प्रसन्नात्मा अर्चक हरि ही है। जो सदा घर की पूजा करते है वे प्राकृत (साधारण) मनुष्य नहीं है। वे देवता ही है और विष्णुलोकसे आकर यहां उत्पन्न हुए है। इस में कोई सन्देह नहीं है। अर्चक का जो रूप है वह चर विष्णु का अंश है। अर्चक का जो वाक्य है वह विष्णु का वाक्य है। हरि के दो रूप है - बिम्ब और अर्चक। बिम्ब तो विष्णु आवाहन के पश्चात् ही हो सकता है अर्चक तो सदा हरि का रूप लिए ही

रहता है। तत्त्व की खज करने वालों में वैखानस विप्र सर्वश्रेष्ठ है। वह विष्णु की परिचर्या में सदा लगा रहता है। और ध्याननिष्ठ याजक है।

अर्चक मध्यवर्ती है। मानसिक वृत्तियों को आवर्जित करता है। जैसे रिक्शेवाले से झगडा होने पर कोई राहगीर मध्यस्थता कर झगडा निपटा देता है। या बस में वैठ पासका यात्री अमुक सिनेमा अच्छा है कहकर प्रवृत्ति उकसा देता है। कभी विरोध और कभी अविरोध की स्थिति होने पर एक मत होने केलिए राजी हो जाते हैं।

क्या यह मध्यस्थता-विशुद्ध मध्यस्थता के लिए की जाती है या इसमे अर्चक का कुध स्वार्थ रहता है ? धर्मप्रचार करना। अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करना। कुछ दक्षिणा एवेंना या भक्त से सांसारिक लाभ के लिए सम्बन्ध हढ करना।

जब हम किसी वर्णचित्रको देखते है तो दृष्टा का चित्र का क्या सम्बन्ध है ? क्या चित्र को देखकर समसामयिक राजनीतिक सामाजिक या धार्मिक स्थिति का परिज्ञान कर सकते हैं।

प्रवहपान्तम् में ऋ.२.२१.१६ ऐतरेय विष्णवे चार्चत पाठ है। तैत्तरीय संहिता २.२.६.१ में देवानामेवायतने यजते। पाणिनि ५.३.९९.

अर्चकस्य प्रभावेन शिला भवति शंकरः पौष्कर संहिता का यह वाक्य विप्रा वैखानसा ये ते भक्तास्तत्वमुच्यते एकन्तिनः सुसत्स्वस्थाः देहान्तं नान्ययाजिनः कर्तव्यमिति देवेशं संयजन्ते फलं बिना।

विप्र जो कि वैखानस है वे अत्यन्त भक्त है यह सच्ची बात है। एक देवता विष्णु की ही पूजा करते हैं। सत्त्वगुण शाली हैं। देहान्त तक अन्य किसी देवता की पूजा नहीं करते। देवता की पूजा बिना किसी फलाभिकांक्षा के करते हैं।

यो देवं पूजयेद्विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम् स वै देवलको नाम हव्यकव्यबहिष्कृतः वैखानस सूत्र से निषेकादि क्रियान्वितान् ११.२-८. प्रकीर्णाधिकार.

वंश की श्रेष्ठता में वैखानस विश्वास करते हैं। योग्य अर्चक केवल दीक्षा से (पाञ्चरात्र) नहीं बनता यह जन्मगत योग्यता है जो वंशानुक्रम से प्राप्त होती है। गर्भ वैष्णव इसी का नाम या कारण है। प्रकीर्णाधिकार १८.१५.१७.

आचार्यः स्यादुपद्रष्टा देवसान्निद्ध्यकारकः

अर्चनाद्यखिलं कार्यं तन्नियोगेन कारयेत
सहि कार्यस्य निर्णेता गोप्ता धर्मस्य देशिकः
अर्चको देवदेवस्य कुर्यान्मन्त्रासनादिषु
उपचारानन्ताश्च विधिना शास्त्रचोदितान्
अर्चकस्य सहायस्तु किंकरः परिचारकः।

अर्चक ही सर्व प्रधान है। उसी की आज्ञा परिचारकों सहायकों पर चलती है। नित्य एवं उत्सव पूजा के लिए वहीं उत्तरदायी है।

प्रकीर्णाधिकार १८.९-१४ में मन्दिरों का वर्गीकरण उपलब्ध है। कितने अर्चक परिचारक होने चाहिए इसका भी संकेत प्राप्त है। बडे मन्दिरों में २० अर्चक तथा ७० परिचारक होने चाहिए उत्तम-मध्यम मन्दिरों १६ एवं ६४ तथा उत्तमाधम मन्दिर में १२.५०.

इनके कार्य भी दिए गये हैं।

यज्ञाधिकार ५०.२४-३४ में —

दैवज्ञ, वास्तुविद्या विशारद, उद्यान रक्षक पुष्प-उपचयकार मालाकार द्रव्यसंभारक दौवारिक।

रूप द्वंय हरेः प्रोक्तं बिम्बमर्चके एव च।

बिम्बे त्वावाहनादूर्ध्वं सदासन्निहितोऽर्चके अर्चकस्तु हरिः साक्षाच्चर रूपी न संशयः।

क्रियाधिकार ३७.५१-६०.

पूजा

गवां सर्वाङ्गजक्षीरं स्त्रवेत् स्तनमुखात् यथा
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषीतनुमाश्रितः भागवत १०.३३.३७.

धार्मिक क्षेत्र में सुधार का अर्थ है भावात्मक क्रान्ति। यज्ञ प्रक्रिया ने जब यह सिखाया कि हम यज्ञ सम्पादन द्वारा प्रकृति पर विजय पा सकते हैं, प्रकृति को अपने वश में कर सकते हैं जो चाहे वह प्राप्त कर सकते हैं पुत्रेष्टि यज्ञ करके पुत्र वाजपेय एवं अश्वमेध से शान्ति एवं राज्य, पर्जन्येष्टि से वर्षा, और सस्यश्यामल कृषि, तो दार्शनिक

क्रान्ति ने जन्म लिया। ये राज्य, ये धन-जन गर्व सब मिथ्या हैं। 'नाहं न त्वं' का निनाद गूंजा। और फिर आई राजनीतिक क्रान्ति। हूण, कुषाण और तत्पश्चात् मंगोल, तुर्कों की तलवार ने भारतीय धार्मिक आस्थाओं की नींव ही हिला दी। 'तत्त्वमसि' खोखला पड गया। मिथ्यात्ववाद में जगं लग गयी। और उपजी भक्ति की प्रचण्ड धारा। शरणागति की अनन्य परम्परा। प्रपन्न की 'त्वमेव शरणं मम' 'अन्यथा शरणं नास्ति' की गूंज समस्त भारत के दिग्दिगन्त में प्रतिध्वनित हुई। 'शुद्धोसि, बुद्धोसि' विस्मृति पथ पर आरूढ हो गये। चरम और तनीयन् ने उसका स्थान ले लिया। परवर्ती व्यापारिक काल (बिटिश शासन) तथा स्वातन्त्र्योत्तर काल की औद्योगिक क्रान्ति का इस भावात्मक क्रान्ति पर कोई प्रभाव न पडा।

पूजा समाज की विषमताओ से, समाज में व्याप्त तरतम भाव या ऊंचनीच से बचनेका एक उपाय है।

अन्तरुल्लसितस्वच्छभक्ति पीयूषपोषितम्।
भवत्पूजोपभोगाय शरीरमिदमस्तु मे ॥

शरीरधारण का प्रयोजन - केवल आपकी पूजा के काम में आवे। पूजा भी उस स्थिति में जब स्वच्छ-भक्ति -पीयूष-पोषित शरीर हो और निरन्तर पूजा से अन्तः उल्लसित हो उठा हो। हे भगवन्। आपकी पूजा के उपभोग के लिए ही मेरा यह शरीर काम में आवे। पूजा कर्म सिद्धान्त की परिवृत्ति है। जैसे तीर्थस्नान, दान, तप आदि। कर्म की नियामकता को व्यर्थ या शिथिल तो अवश्य कर सकती है। वैसे भी शरणागति तत्त्व वैष्णव सम्प्रदायों में नित्य कर्मों से श्रेष्ठ है, विशेषतः, तेंकलाई सम्प्रदाय में। शाप विमोचन अनेक अवतारों मे नियत काल के पूर्व ही अवतार पुरुष की कृपासे सम्पन्न हो गया। वैसे भी शंकर का नाम ही भोलाशंकर है जो भक्तकी पुकार पर कर्म के सिद्धान्त का तिरस्कार कर सकता है। भक्तकी पुकार पर विष्णु या विष्णु के अवतार चमत्कारिक कार्य कर कर्म सिद्धान्त की कारण-कार्य सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं।

शंकर के अनुसार यदि ज्ञानी हो जाने पर पुरुष चाण्डाल नहीं रहता, चोर चोर नहीं रहता, वैष्णव भक्त 'तवास्मीति' कहकर सारे नियम-स्मार्त, नैतिक या सामाजिक से अस्पृश्य हो जाता है तो समाजमें एक क्रान्ति ही है। कर्मसिद्धान्त के प्रति विद्रोह।

पूजा का प्रसङ्ग भागवत ४.८.५६-६१ तथा ११.२७.३०-३५ में प्राप्त है।

भगवान प्रत्येक को देखता है। उसके अच्छे बुरे कर्मों को देखना उसका काम है। क्यों कि नियमों का जो नियम है वह उस नियम का नियन्ता है। नियामक है। इसलिए यह आवश्यक है कि सब लोग उसके दरबार में आवें जिस से प्रत्येक वर्ग का अपना तथा समाज द्वारा विहित कर्मों का पालन करता है कि नहीं उसका लेखा जोखा या निरीक्षण किया जा सके। स्वयं गीता में कहा है - धर्मग्लनि से रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। तब व्यक्ति एवं समाज के सामूहिक कृत्यों का अवलोकन करना भगवान का उत्तर दायित्व है इस उत्तरदायित्व का निर्वाह समूर्त भगवान की कल्पना से ही सम्भव है।

पूजा की प्रशंसा

अर्चनफल को बताते हुए महर्षि मरीचि ने कहा है -

अनाहिताग्नीनां सामान्यमग्नि- होत्रफलम् विमानार्चन कल्प. पृ.३.

जो अग्निहोत्र से वञ्चित हो गये हैं उनको भी पूजा करने से अग्निहोत्र का फल मिलता है।

विष्णुरहस्य ने भी

विष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥

इस पृथ्वी पर जो लोग विष्णु की पूजा करते हैं वे विष्णु के परमपद को प्राप्त करते हैं।

गवाह्निकं देवपूजा वेदाम्यासः सरित्प्लवः।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥

जो लोग प्रतिदिन गाय की सेवा करते हैं, देवपूजा करते हैं, वेदाध्ययन एवं अभ्यास करते हैं, पुण्यनदी में स्नान करते हैं, उनके महापातक जन्य पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

नान्यभक्ता क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम् ॥३३॥
प्रयता नित्यमर्चन्ति परमं दुःखभेषजम् ॥३६॥

भीष्मस्तवराज में ये दोनों श्लोकार्ध पठित हैं जिन का अर्थ साफ हैं भगवान के अनन्यभक्तों के लिए जो पूजा करते हैं उनके लिए सर्वकामद एवं दुःखभेषज हैं।

पूजा का सन्दर्भ वैखानस सूत्र ४.१२ में प्राप्त हैं।

आश्वलायन ने अपने सूत्रों में सन्ध्या के समान सुरार्चा को भी नित्यमाना है। अग्निहोत्रं सुरार्चा च सन्ध्या च नित्यं भवेत्ततः।

नारदने भी

यथा सन्ध्या स्मृता नित्या विष्णुपूजा तथा बुधैः।

जैसे सन्ध्या परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिशः करनी पडती हैं वैसे ही सुरार्चा भी प्रत्येक व्यक्ति को करनी चाहिए।

अर्चात्मन्येव सर्वेषामधिकारोस्ति निरंकुशः ।
विशेषभक्ति हेतुत्वात्प्रतिमाराधनं परम् ॥ प्रकीर्णाधिकार. ३३.३३.

कूर्मपुराण में भी -

न विष्णवाराधनात्पुण्यं विद्यते कर्म वैदिकम् कहा है।

बोधायन ने स्त्रियों तथा दीक्षामन्त्र से अनधिकृत व्यक्तियों को भी पूजा में अधिकार माना है -

स्त्रीणामप्यधिकारोस्ति विष्णोराधानादिषु
दीक्षान्त्रविहीनोपि कुर्याद्देवार्चनं बुधः

शायद दीक्षा सम्प्रदाय बोधायन काल में भी प्रचलित था।

धर्मार्थकाममोक्षाणां भाजनं विष्णुपूजकः

विष्णुपूजक को धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों विध पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है।

अग्निहोत्र वेद तथा सदक्षिण यज्ञ ये सब मिलकर भी हरि के पूजन के कोट्यंश अर्थात् करोडवें भाग के समान भी नहीं है।

श्री विष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्
ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्रैः स्त्रीभिः सुरेश्वर
पूजनीयो भक्तिभिम्लेच्छैःरन्यैश्च मानवैरिति

हेमाद्रि में देवीभागवत वचन

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते

वेद में, रामायण में, पुराण में, महाभारत में आदि मध्य तथा अन्त में हरि की स्तुति सर्वत्र गायी गयी है।

आध्यात्मिक आनन्द सब आनन्दों में श्रेष्ठ है ऐसा लोक में विश्वास हैं। यह किसी एक समाज या वर्गका है ऐसा नहीं है सभी लोग ऐसा मानते हैं। पूजाका आनन्द तो कुछ और ही है —

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनोनन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते बोधसार.

पूजा करते समय शरीर रोमाञ्चित और पुलकित हो उठता है। भक्ति से मन आनन्द विभोर हो जाता है। सारा चेहरा प्रेमाश्रुओं से भीग जाता है। वाणी गद्गद हो जाती है। कृष्णार्चन करते हुए हमको किसी इच्छा या काम की ओर सोचने की फुरसत या मौका ही नहीं है फिर भी चारों प्रकार की मुक्तियां हमारी दासी बनने के लिए न जाने क्यों लालायित हैं।

स एष देव यज्ञोऽहरहर्गोदानसम्मितः सर्वाभीष्टप्रदः
स्वर्गापवर्गदश्च तस्मादेनमहरहः कुर्वीत पूजाप्रकाश पृ.९८.

पूजा या देवयज्ञ गोदान के समान फलदेनेवाली सर्वाभीष्ट प्रदान करने वाली स्वर्ग-अपवर्ग को देनेवाली है अतः प्रतिदिन पूजा करनी चाहिए ।

सर्वेषामेव लोकानां गुरुर्नारायणो हरिः ।
तस्य सम्पूजनं कार्य सर्वपापहरं हि यत् ॥ पूजाप्रकाश पृ.२४.
इतः परतरं नास्ति स्वर्गमोक्षफलप्रदम् ।
दरिद्रैः सुकरं कर्तुं देवदेवस्य पूजनम् ॥ नृसिंहपुराण

स्वर्ग और मोक्षफल देनेवाला इस से अधिक सुकर उपाय और नहीं है क्यों कि इसको दरिद्र भी बडी आसानी से कर सकतें है।

भागवत में -

स्वर्गापवर्गयोः पुसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।

सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं त्वच्चरणार्चनम् ॥

शंकराचार्य ने गीता १८.५५ की टीका में -

स्वकर्मणा भगवतः अभ्यर्चनभक्तियोगस्य स्वकर्मणा सिद्धिप्राप्तिः ज्ञाननिष्ठा-योग्यता अपने कर्मों द्वारा भगवान की पूजा करना भक्तियोग की सिद्धि अथति् फलज्ञाननिष्ठा की योग्यता है।

पूजा वैखानसैर्विप्रैरालये स्यात् विशेषतः।
सर्वं सम्पत्करं चैव सर्वदुःख विनाशनम् ॥ कौर्मे

वैखानसविप्रों द्वारा यदि देवालय में पूजा सम्पन्न की जाय तो वह पूजा सर्वदुःख विनाशकर एवं सर्वसम्पत्कर होती है।

आलयपूजा का प्रारम्भ व्यक्ति के लिए नहीं समाज के लिए होगा। आध्यात्मिक प्रगति व्यक्तिगत प्रयत्न सापेक्ष है। समाज तो उसको कुछ नुस्खे ही दे सकता है। इस अर्थ मे नियत कालसेवा को अनियत काल सेवा में बदल सकता है। पर पूजा करने केलिए आवश्यक भक्ति तो व्यक्ति की आत्मिक प्रगति से सम्भव है।

तब क्या पूजा शुद्ध कर्मकाण्ड है या व्यक्ति की आत्मिक उन्नति का सोपान भी।

पूजा तो मानव जीवन का असली सार है। यदि अर्चाका अवकाश मिलता रहा तो मोक्ष के लिए श्रम क्यों करें? 'अर्चाचेत् विधितश्च ते वद तदा किं मोक्षलाभल्कमैः' शिवशतक ५.

यज्ञ और पूजा दोनों यंत्र हैं, जैसे ज्वरमापक यन्त्र। शरीर में लगाया प्रतिफल सामने। यज्ञ के स्वयं फलपरिणति के विषय में विफल वाङ्मय उपलब्ध है पूजा का भी ऐसा ही है। ध्यान, आवाहन, धूप, दीप, नैवेद्य, आरती एवं फूल, चन्दन, जला भिषेक एवं मन्त्र सब मिलकर ऐसा यन्त्र के समान काम करते हैं कि फलवत्ता निश्चित है। निश्चय ही पूजा उन पतितों के उद्धार के लिए मुख्यतया प्रयुक्त है जो यज्ञाधिकार से वञ्चित हो गये थे।

भक्ति साहित्य में मोक्ष को पुरुषार्थ नहीं माना है। भक्ति ही पुरुषार्थ है। 'भक्तिरेव परमपुरुषार्थो मोक्षस्यापुरुषार्थ त्वादिति तु भागवताः' भक्तिमीमांसा चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद सूत्र।

विष्णु पुराण १.२०.२७ ने भी

धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिः तस्य करे स्थिता।

समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि॥

जिस की भगवान में स्थिरा भक्ति है मुक्ति तो उसके मुट्ठी में बन्द है। धर्मार्थ काम से उसका क्या लेना देना?

कमाराजकीलितोद्धारोपनिषत् में लिखा है –

सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत्।

पूजा करने से सत्त्वगुण प्रबल होता है राग, द्वेष, ईर्ष्या, असत्य - अनीति - दुराचार आदि सारी वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं।

पूजा-जप हुत ध्यान अर्चना इस तरह चार प्रकार की है।

यथा कुण्डगतो वह्निर्वायुना ज्वलितो भवेत्।

तथा बिम्बगतो विष्णुर्मन्त्रेण ज्वलितो भवेत्।

जैसे यज्ञकुण्ड में स्थित वह्नि वायु की सहायता से प्रवृद्ध हो जाती है वैसे ही बिम्ब (मूर्ति) में स्थित मूर्तिरूप विष्णु मन्त्र की सहायता से प्रकाशित हो जाते हैं।

पूजा की परिभाषा: व्युत्पत्ति

पाणिनि ने पूज पूजायाम् एक धातु पाठ दिया है। पर पूजा का क्या अर्थ है नहीं बताया। पूजायाम् कह कर छोड दिया। पर टीकाकार ने – 'देवपूजात्विह देवतोद्देशेन विधिबोधितो द्रव्यत्यागः।' कहा है। इसका अर्थ जिस अर्थ में हम आज पूजा समझते हैं वह नहीं हैं। पर यज्ञ का अर्थ ज्यादा है।

पाणिनि सूत्र ८.१.६७. पूजनात् पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः में पूजनात् एवं पूजित दोनों रूप प्राप्त हैं।

मनु ने ७.२०३ में

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।

रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैस्सह॥

यहां पर टीकाकार ने पूजयेत् का अर्थ सत्कार करना ऐसा लिखा है।

ऋग्वेद मन्त्र ४.५.७२

'ऋतस्य न पतयो मृडयन्तु में' मृड शब्द का अर्थ या तो दया या पूजा हो सकता है। पूजा का मूल एवं प्राथमिक अर्थ अतिथि पूजा है।

पाणिनि में अलबत्ता भक्ति पद का अर्थ भज्यते सेव्यते इति भक्ति – तत्त्वबोधिनी

टीका में प्राप्त है।

प्रतीकोपासना

प्रतीक श्लोक या मन्त्र के उस मुख भाग को कहते हैं जिसके स्मरण से सारे मन्त्र की उपस्थिति हो जाती है। अर्थात् उस प्रथम शब्द से समग्र मन्त्र उपस्थित हो जाता है।

मन्दिर में मूर्ति के दर्शन करने पर मूर्ति दिव्य सन्निधि का अनुभव कराती है। यह एक प्रतीक है। उसकी प्रतीकात्मकता क्या है? यही अभिधेय (वस्तु या अर्थ) का प्रकाश प्रतीक की रूप परिवर्तनीयता या बिम्ब प्रतिबिम्ब भेद को मिटाने के सामर्थ्य पर निर्भर है।

मन्त्र और मूर्ति दोनों प्रतीक हो सकते हैं।

किं तस्य बहुभिः मन्त्रैः किं तस्य बहुभिः मखैः।
'ॐ नमो नारायणेति' मन्त्रः सर्वार्थसाधकः॥

मूर्ति के सामने बैठकर प्रयोग विधि की जटिलताओं में फंसने की अपेक्षा यह अष्टाक्षरी मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' काफी है। यह सर्वार्थसाधक है। अतः नारायण की मूर्ति नारायण का मन्त्र दोनों प्रतीक का सशक्त ढंग से काम कर सकते हैं।

भगवान विखना ने यागीय वेदाग्नि के स्थान पर भगवान की मूर्ति का प्रत्यारोपण किया। अग्नि कार्य से जो फल मिलेगा वह फल मूर्तिपूजा से भी मिलेगा ऐसा उपदेश दिया। इन्द्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा उच्चार के साथ हवि प्रक्षेप अग्नि में ही करते थे, अतः अग्नि ही समस्त देवताओं की प्रतीक रूप से उपस्थिति को अभिव्यक्त करता है। पांचों बेरों को पांच अग्नि स्थानीय मान लिया गया है।

क्या प्रतिमा प्रतीक का काम कर सकती है? शंकर ने यह प्रश्न विष्णु सहस्रनाम की श्लोक १० की टीका में उठाया है। 'ननु प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यति।'

रूपहीन दिव्य ज्योति का प्रतीक है – मूर्ति। आलंकारिकों के विश्लेषणात्मक प्रयत्नों के फल स्वरूप मन की मापक – शक्ति और विस्तृत हुई। प्रतीक या मूर्ति जो अब तक केवल रास्ता दिखाने का काम करती थी अब उत्तेजक भी हो गयी। मूर्ति को हार केयूर कुण्डलों से सजाये जाने से अब अन्तःकरण वृत्ति का भगवान की ओर और दृढ झुकाव हुआ। इससे मूर्ति की प्रतीकात्मता और दृढ हुई। भगवान का शृंगार ऐसे पद प्रयोग में आने लगे।

रूपहीन को एक भारतीय स्थपति या मूर्तिकार ही मूर्त रूप दे सकता है। जो

निखिलहेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान हैं उसकी मूर्ति (प्रतीक) क्यों न सुन्दर हो। ऋग्वेद ११.१२.९. 'यो विश्वस्य प्रतिमानं वभूव' में उसे विश्व की सुन्दरता नापने वाला बाट कहा है। कुमारिल ने साधुशब्दाधिकरण में सगुण ईश्वर की पूजा को स्वर्ग प्राप्ति का साधन माना है। दिव्यसन्निधि में भौतिक परिवेश शिथिल हो जाता है। एक आनन्द, एक शान्ति का उदय होता है जो लोकोत्तर है। तब मूर्ति का पूजा और आनन्द प्राप्ति में कोई सम्बन्ध है। शायद ज्ञात सम्बन्धों में कोई नहीं। ये सास ससुर साली साले बीबी बच्चे भाभी भौजाई तार्किक, तकनीकी जैवीय क्रम, गणतीय या अक्षरात्मक या अन्य कोई नहीं। जब हम माता की ममता कहते हैं और समझाते हैं कि भूख से बिलखती शेरनी भी अपने बच्चों को मार कर नहीं खाती तब मातृत्व चाहे मानवी का हो या शेरनी का समझ में आता है। प्रत्यभिज्ञा शैवदर्शन का प्रस्थान है। यहाँ एक तत्त्व है जिसको विमर्श कहते हैं। यह वह प्रकाश है जो परमात्मा को साक्षात् कराता है। यह विमर्श शक्ति वह साइन बोर्ड है जो सडक के किनारे लगा रहता है एवं रहागीरों को सच्ची राह दिखाता है। इसी प्रकार प्रतीक भी। भगवत्स्वरूप को साक्षात् दिखाने के लिए उनकी मूर्ति एक रास्ता दिखाती है इसी को चितिसंज्ञा कहते। वह प्रकाश जो पूरे मार्ग का पथ प्रदर्शक हो जाता है। इसी शक्ति को 'विमर्श इति तां प्राहुः' कहा है। प्रतीक की शक्ति, इसका मूल के साथ सम्बन्ध, उनके कार्य कारण भाव का सम्बन्ध या अन्य सम्बन्ध यहां विचारणीय विषय नहीं है। पर प्रतीक का मूल से सम्बन्ध है यह नकारा नहीं जा सकता।

मूर्ति- प्रतीक धर्म के भास्वर रूप के लिए साधन है। शरणागति द्वारा अपने 'स्व' को खोकर अद्वय भावना का दृढ बोध कराना मूर्ति दर्शन - जन्य परिणाम है।

रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में - प्रतीकोपासन मे - अब्रह्मणि ब्रह्म दृष्ट्याऽनुसन्धानम् कहा है।

मूर्ति पूजा की प्राचीनता

वेद तथा प्राचीन वाङ्मय में पूजा का सन्दर्भ

अर्चा पद पूजा अर्थ में ऋग्वेद में प्राप्त है।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चयन्त्यर्कमर्किणः ।।

ब्राह्मणस्त्वा शतक्रत उद्वशमिव येभिरे। ऋ.१.१०.१.

अन्यत्र 'अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन यो जनेना परावतः इषं वहन्तो सुकृते सुदानवे विश्वदेह यजमानाय सुन्वते' ऋ.१.९२.३. पर स्कन्दस्वामी का भाष्य।

यहां अर्चन्ति क्रिया रूप उपस्थित है। ऋग्वेद १.१६५.१. में पुनः अर्चन्ति पद प्राप्त है 'कया शुभा सवयसः सनीलाः सामान्या मरुतः सं मिमिक्षु कया मतीकत एतास एते अर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया।'

प्रतिमा के अर्थ में भी अर्चा पद का प्रयोग है। 'तत्र अर्चा नाम प्रतिमादयः' सर्वदर्शन संग्रह पृ.४४ आनन्दाश्रम। ऋग्वेद १.२५.१३ मे वरुण को स्वर्ण वस्त्र पहिने दिखाया गया है। यदि शरीर नहीं है। तो वस्त्र कहां पहनेंगे? ऐतरेय आरण्यक में इन्द्र की मूर्ति बनाने का प्रसङ्ग है 'इन्द्रात परितन्वं ममे'। तैत्तरीय आरण्यक में कहा गया है कि देवताओं के वस्त्र रंग या वर्णयुक्त है 'सरागवस्त्रैः जरदक्षः प्रथमः स्मृतः देवतानां वस्त्राणि च शृंगारार्थं हरिद्रादिद्रव्यरञ्जितानि भवन्ति' सायण। रामतापनीयोनिषत् में भी अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु तृतीयखण्ड पृ.३३४ आड्यार। मनु ने भी - अप्स्वग्नौ चैव हृदये स्थण्डिले प्रतिमासु च। विप्रेषु हरेः सम्यक्अर्चनं मनुना स्मृतम्। शंकराचार्य ने —

तमेवार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायंस्तुवन्नमस्यं यजमानस्तमेव च ॥ वि.स.५

टीका में - तमेव चार्चयन् वाह्यार्चनं कुर्वन् सर्वेषुकालेषु भक्तिर्भजनं तात्पर्यं तया भक्त्या पुरुषमव्ययं विनाशक्रियारहितं तमेव च ध्यायन् आभ्यान्तरार्चनं कुर्वन् पूजा शेषभूतमुभयं स्तुतिनमस्कारलक्षणं यजमानः पूजकः फलभोक्ता अथवा अर्चयन्नित्यनेनोभयविधमर्चन-मुच्यते। ध्यायस्तुंवन्नमस्यश्चेत्येतेन मानसं वाचकं कायिकं चोच्यते ॥४॥

बाह्य और आभ्यान्तरार्चन इस प्रकार दो भेद किये हैं। बाह्य को स्तुति नमस्कार लक्षण कहा है।

पुनः

एष में सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥ वि.स.८.

सर्वधर्माणामधिकतमो कहकर अर्चारूप धर्म की प्रशंसा की है। अधिकतम क्यों है इस पर विचार करते हुए - हिंसादि पुरुषान्तर द्रव्यान्तर देशकाललादि नियमानपेक्ष्यत्वम् आधिक्ये कारणम्।

हिंसादि का अभाव अन्य पुरुष और द्रव्यान्तर की आवश्यकता नहीं, देशकालादि नियमों से परे, इसकी अधिक मान्यता के कारण हैं। अन्यत्र श्लोक १०६ पर टीका करते हुए अर्ह पद का विस्तार प्रस्तुत किया है - स्वागत - आसन - प्रशंसा - अर्घ्य -

पाद्य - स्तुति - नमस्कारादिभिः ऐसा लिखा है।

भीष्मपर्वके १०८ में द्रोणने अश्वत्थामा से कहा –

देवतायतनस्थाश्च कौरवेन्द्रस्य देवताः।
कम्पन्ते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च ॥११॥

नारायणीय को साम्प्रदायिक कहकर ऐतिहासिक मूल्य कम कहते हैं।

द्वितीय शती ईसवी पूर्व का एक मन्दिर चित्तूर जिला स्थित नगरी में वासुदेव एवं संकर्षण का प्राप्त हुआ हैं। वेसनगर गरुडध्वजस्तम्भ भी इसी काल का माना जाता है।

पूजा की प्राचीनता

विष्णु पूजा का प्राचीनतम सन्दर्भ नानाघाट शिलालेख में प्राप्त हैं। यह सात - बाहन नृप सातकर्णी द्वितीय की पत्नी रानी नग्निका का हैं। यह शिलालेख प्रायः १८४ -१२५ ई.पू. का है। घुसुण्डीका अन्य शिलालेख प्रसिद्ध ही हैं। भिलसा गुरुडस्तम्भ मे (द्वितीयशती ईसापूर्व) उत्तमप्रासाद भागवत जैसे पदों का उल्लेख हैं। द्वितीय ई.पू. में गाजायन द्वारा नारायण वाटिका या नारायण मन्दिर बनबाने का वृत्तान्त हैं।

उदयगिरि में वासुदेव के मन्दिर होने का पुष्ट प्रमाण हैं जो कि सम्भवतः ४०२ ई. का होगा।

महेन्द्रवर्मा प्रथम ने अपने आपको चैत्यकारी अर्थात् मन्दिर निर्माता कहा हैं। इसने चङ्गलपुट, तिरुचिरपल्ली और उत्तर- दक्षिण आर्काट जिलों में अनेक मन्दिर बनवाये।

पूर्व चालक्य बादामी के शासकों में मंगलीश ५९६-६११ ई. का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह अपने आपको परमभागवत कहता था बादामी में इसका बनवाया हुआ विष्णु गृह प्रख्यात मन्दिर हैं जो ५७८ ई. में बनकर तैयार होगया था।

महेन्द्रवर्मा ५८०-६३० ई. एक शिलामन्दिर मन्दगापट्टु में स्थित हैं। उसने ऐसे ही अन्य मन्दिर भी वनवोयो

पाण्ड्य शासक भी मन्दिर निर्माण में कम उत्साही न थे। उन्होने अनेक याग-यज्ञ कि एवं अनगिनत मन्दिर बनवाये।

चोलशासक भी मन्दिर निर्माण कार्य में किसी से पीछे न थे।

पूजा के प्रकार

अ) स्वार्थ परार्थ

आ) मूर्त अमूर्त

इ) सकाम निष्काम

ई) आभ्यन्तर बाह्य

उ) सेवा यात्रा उत्सव

ऊ) मानस होम बेर

ए) गृह आलय

ऐ) सेवा यात्रा उत्सव

ईश्वर के प्रति मानव के प्रयत्नों में नयनगोचर रूप से दीखने वाले वाह्य प्रयत्नों में दो मुख्य हैं। यज्ञ एवं पूजा।

पूजा मूर्त से अमूर्त की ओर जाने का यान हैं। पूजा की मूर्ति रूप- प्रधान हैं। उपादान का कोई महत्व नहीं है क्यों कि मूर्तियां लकडी, पत्थर, ताम्बा, सोना, मिट्टी आदि अनेक धातुओं से बनती हैं। रूप एवं अवयवों की पारस्परिकता या समन्विति ही मूर्ति की विशेषता हैं। सारा ब्रह्मण्ड शरीरशरीरी भाव से बंधा हैं। इस सम्बन्ध को जानना ही अत्यक्त को व्यक्त रूप से पहचानना हैं।

मध्वाचार्य ने तन्त्रसार संग्रह की टाका में अज्ञानां साक्षात् भगवत्पूजाया: कर्तुमशक्यत्वेन प्रतिमायामेव कतर्व्यत्वात् तदर्थं प्रतिमा निर्मातव्या'। रामपूर्व-तापनीयोपनिषत् में भी

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण:।

उपसकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

ईश्वर तो चिन्मय है। अद्वितीय है। निष्कल है। अशरीर है। पर अपने उपासकों के लिए रूप की कल्पना करता है।

रूप की कल्पना ? जैसे एक नर्तकी अपने दर्शकों को नटराज या महिषमर्दिनी के रूप को दिखा कर उस समय के लिए तद्रूप भर आनन्द विभोर कर देती है और बाद में उन मुद्राओं को अपने में समेट लेती है वैसे ही ईश्वर भी भक्तों के सौकर्य के लिए रूप धारण कर लेते हैं।

मरीचि ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए अपने विमानार्चन कल्प में कहा है–

'परमात्मानं व्यवस्थितं ध्यानेन पश्येत्। ... .'

तद्ध्यानसंकल्पात् सकलो भवति। कुलालचक्रमृदो घटशरावादिभेदे इव यद्यद्रूपं मनसा भावितं तद्रूपो भूत्वा विष्णुः प्रकाशते। पृ.३०८. वह ध्यान के अनुरूप रूपायित हो जाता है जैसे कुम्हार की चाक पर चढा मिट्टी का लोंद। कुम्हार जैसा आकार चाहता है वैसे रूप को उस मिट्टी को दे देता है और मिट्टी उस रूप को धारण करती है।

मानस व्यापार को कोई अवलम्ब चाहिए। शायद मूर्ति पूजा प्रतीकोपासना का प्राचीनतम रूप हो।

पूजा में सब का अधिकार है।

स्त्रीणामव्यधिकारोस्ति विष्णोराराधनादिषु।
दीक्षामन्त्राविहीनोपि कुयाद्देवार्चनं बुधः ॥

जो दीक्षा के एवं मन्त्र के अध्ययन के अधिकार से वञ्चित है, जो स्त्रियां है उन सबका विष्णु पूजा में अधिकार है।

स्वार्थ परार्थ:

समूर्तार्चन दो प्रकार का है। आलयार्चा गृहार्चा। मन्दिर में पूजा एवं अपने घर में पूजा इसमें आलयार्चा ही उत्तम है। आलयार्चा को ही परार्थ पूजा कहते हैं।

देवस्यैव निवासत्वात् परिवारैः समायुता
बल्युत्सवादिभिः सर्वैरुपचारैश्च संयुता
आलयार्चा सुपूर्णेयमुत्तमेति प्रकीर्तिता। अत्रिः समूर्चनाधिकार.१.३६.

क्यों कि मन्दिर में किसी गृहस्थ का परिवार नहीं रहता एवं भगवान अपने परिवार देवताओं साथ रहते हैं अतः मन्दिर की शुचिता एवं पावनत्व घर की अपेक्षा निश्चय ही प्रशस्ततर है। फिर गृहार्चना में बलि एवं उत्सव आदि नहीं मनाये जाते। घर में तो एक व्यक्ति का ही अधिकार रहता है अतः दर्शन सर्वजन सुलभ नहीं है। और मन्दिर में पूजा सर्वजन शान्ति राजराष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए की जाती है। और मन्दिर में षट्काल पूजा का विधान है। घर में तो प्रातः एक बार अधिक हुआ तो सायं और वह भी लघु पूजा ही होती है

स्वार्थ पूजा यजमान अपने लिए ही अपने घर में ही करता है। होम करता है। नित्यकर्म के रूप में ही करता है। यह पूजा शुद्ध पूजा है।

मनु ने पूजा को नित्य कर्म कहा है –

नित्यं स्नानं शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ मनु.२.१७६.

मन्दिर की पूजा में अर्चन, उत्सव, स्नपन तथा बलि शामिल है। अर्चनं चोत्सवं चैव स्नपनं बलिमेव च। अत्रि समूतीर्चन ५८.२०.

देवार्चनपरो येपि परार्थं वित्तकांक्षया
चतुर्वेदधरो विप्रः स चाण्डालसमो भवेत् ॥ विष्णुधर्मोत्तर.

मूर्त अमूर्त

तादाराधनं द्विविधं - अमूर्तं समूर्तमिति। अग्नौ हुतममूर्तम् प्रतिमाराधनं समूर्तम्। तच्छ्रेष्ठम्। यजमानाभावेऽपि अविच्छिन्नं भवति। मरीचिः विमानार्चनकल्प पृ.५.

आराधन दो प्रकार का हैं अमूर्त और समूर्त। अग्नि में आहुति देना अमूर्त पूजा हैं। प्रतिमा का आराधन समूर्त पूजा हैं। समूर्त पूजा ही श्रेष्ठ हैं। क्यों कि यजमान के अभाव में भी अविच्छिन्न रूप से चलती रहती हैं। अग्नाविव सवितरिहृदये स्थण्डिले च भगवदर्चनं अमूर्तमिति। मरीचि रूपं विधत्ते अरूपश्च भक्तानुग्रहहेतवे - ब्रह्मवैवर्त २.३४.२९.

पुनः पूजा के तीन भेद प्रस्तुत किये हैं। मानसपूजा, होमपूजा तथा बेर पूजा। इसमें बेर पूजा ही प्रशस्त हैं।

अमूर्त तो आकाश के समान सर्व व्यापक हैं। उसकी मूर्ति नहीं बन सकती। अतः पूजा भी नहीं हो सकती। मूर्त रूप की ही पूजा हो सकही हैं। जो अव्यक्त हैं, सर्व व्यापी हैं, वह नारायण हैं। क्यों कि नारा जलमें रहता है (मनु१.१०) अतः नारायण हैं। जैसे जलका भगशः पृथक्करण सम्भव नहीं हैं। वैसे ही इस अविभाज्य ज्योति का। मूर्त ही पूजा योग्य हैं। अमूर्त का पूजन वानप्रस्थों के लिए छोड देना चाहिये।

क्रियाधिकार में मानस वाचिक कायिक पुनः तीन भेद या विभाग किये हैं।

क्रियाधिकार १.७ एषा तु मानसी पूजा कहा हैं। और उसका लक्षण इस प्रकार दिया हैं-

हृदि स्थितिगतं पीठं चतुरश्रं हिरण्मयम्।
नानामाणिगणज्वाला दुष्प्रेक्ष्यं शुभमुज्वलम्॥ ५.
तस्य मध्यगतं ध्यायेन्नारायणमनामयम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं शंखचक्रधरं परम् ॥ ६.
आसनाद्युपचाराणि मनसा तस्य भावयेत्।

हृदयस्थित भगवान जो पीठ पर विराजमान हैं अनेकमणियों की माला से आंख चकाचोंध हो जाती हैं जो शंखचक्र धारण किये हुए और जो शुद्ध स्फटिक के समान हैं आसनादि उपचारों से उनका ध्यान मन में करे।

द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चामूर्त च। शतपथ १४.५.३.१ भागवत ११.२७.९ अर्चायां स्थण्डिले नौ वासूर्येसूर्यो वाप्सु हृदिद्विजे

क्रियाधिकार १९.१ में अर्चन तीन प्रकार का माना हैं। शान्तिकं, पौष्टिकं,

काम्यमिति भिन्नं त्रिधार्चनम्। शान्तिक, पौष्टिक एवं काम्य। व्याधि, दुर्भिक्ष दुःस्वप्न एवं दुनिर्मित्त तथा शत्रुपीडा की एवं नवग्रहशान्ति केलिए शान्ति। अन्य दोषों के उपशमन केलिए भी शान्ति पूजन का प्रयोग कहा हैं। धन धान्य आदि की वृद्धि के लिए जो अर्चन किया जाता है उसे पौष्टिक कहते हैं। जो इच्छाओं या कामनोओं की पूर्ति के लिए किया जाता है उसे काम्य कहते हैं। उनका सम्पादनकाल भी कहा हैं पर निशा में तीनों वर्जित हैं।

होमपूजाः यज्ञाग्नि की पूजा है। ध्यात्वाऽग्निमण्डलं तस्य ध्यायेन्मध्ये प्रभां शुभाम् प्रभामध्यगतं ध्यायेदासीनं वा जनार्दनम् ॥१.९

तप्तहाटकसंकाशं चतुश्शृंग द्विशीर्षकम्

सप्तहस्तं त्रिचरणं दुष्प्रेक्ष्यं सप्तजिह्वकम् ॥१.१०

स्रुकस्त्रुवौ चाक्षमालां च शक्तिं दक्षिणपाणिषु

चामरं व्यजनं चैव घृतपात्रं च वामतः १.११

ध्यात्वा यथोक्त हविषा यजेत्तद्धोमपूजनम्

यथोपयोगशक्यत्वात कर्तुं पुष्पादिपूजनम् ॥ १.१२ क्रियाधिकारा वह्निका अन्यत्र वर्णन दिया हैं। ध्यान अग्नि का नहीं है पर जनार्दन का हैं१.९

यहां पर यजेत् पदका प्रयोग है अर्थात् साधारणतया अग्नि की यजनपद्धति में जैसा करते हैं वैसा ही पर बादमें पुष्पदिपूजन १.१२ भी शामिल कर दिया गया हों पर पुष्पों में अग्निकुण्ड में प्रक्षेप करे ऐसा नहीं कहा हैं। फूलों से पूजा तो करे पर आवाहन कुण्ड के बाहर कुण्ड के परिसर प्रदेश में ऐसा अर्थ करना पडेगा।

बेर पूजाः

चक्षुसः प्रीतिकरणान्मनसो हृदयस्य च

प्रीत्या सञ्जायते भक्ति भक्तस्य सुलभो हरिः१.१३

तस्मात्त्रयाणामेतेषां बेरपूजा विशिष्यते।

तीनों भेदो में मानसी होम बेर पूजा में बेरपूजा ही श्रेष्ठा हैं। क्यों कि यह हृदय एवं चक्षुओं को आनन्द देने वाली हैं और भक्त के लिए हरि सुलभ हैं।

त्रिविधमाराधनम्

नारायणस्य भूतानामत्मनः परमात्मनः।

लीलया जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणः ॥१४॥

देवदेवेशितुर्विष्णोः लक्ष्मीशस्य जगत्पतेः।

उपायस्त्रिविधः प्रोक्तः पूजायाः शृणु द्विजाः ॥१५॥
मानसी होमपूजा च बेरपूजेति सा त्रिधा।
हृदये हृदयेशानं जगदीशं परात्परम् ॥१६॥
ध्यात्वा तु हृदयान्तस्थं हेमवर्णमजं विभुम्।
कृत्वैकाग्रं मनस्सम्यक् कृतस्नानजपादिकः ॥१७॥
रश्मिमाला सहलस्त्राढ्यं मण्डलं विपुलं रवेः।
तदन्तः शीतलाभिक्तु ररिममिः सोममण्डलम् ॥१८॥
ततः स्फुलिङ्गकलिलज्वलाभिर्वह्निमण्डलम्।
तस्य मध्ये सुखासीनं तप्तहाटकसंन्निभम् ॥१९॥
चतुरङ्गुलमात्राङ्गं शुकपत्रनिभाम्बरम्।
हारकेयूरकटककटिसूत्रोपशोभितम् ॥२०॥
कौस्तुभोद्भासितोरस्कं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम्।
उद्दामकाञ्चीविलसन्मुक्त वीरोपशोभितम् ॥२१॥
रक्तनेत्रधरं रक्तपाणि पादनखं शुभम्
शखंचक्रधरं देवं चतुर्बाहुधरं परम् ॥२२॥
तद्गतेनैव मनसा नैरन्तर्येण चिन्तयेत्।
ध्यात्वैवमर्चयेद्देवं सा पूजा मानसी स्मृता ॥२३॥
अग्नीनाधाय विधिवदध्वरेषु द्विजातिभिः।
इज्यते यज्ञपुरुषः सर्वदेवमयो हरिः ॥२४॥
यो यज्ञरूपी तस्यार्चा होमपूजोति कथ्यते।
कृत्वा यत्प्रतिमां विष्णोः यथालक्षणामादरात् ॥२५॥
संस्थाप्य तां तु विधिना देवागारेऽथ वेशमनि
नित्यमाराधनं भवत्या सा पूजा बेरपूजनम् ॥२६॥
आलये बेरपूजा च ग्राममध्ये प्रकल्पिता।
सा तत्र वासिनां सर्वमग्निहोत्रं द्विजन्मनाम् ॥२७॥
शुष्केन्धनं यथानग्नौ न प्रज्वलिति कर्हिचित्।
तद्वन्मोघो द्विजोऽनग्निः इत्याहुः वेदपारगाः ॥२८॥
अग्निहोत्रमग्नीनानां धाता प्राहालयं हरेः।
अग्निहोत्री लभते स्वर्गं नेत्याह च श्रुतिः ॥२९॥

संगतिर्देवपूजा च दानं यज्ञ इति स्मृतिः।

यज्ञेष्वेतेषु विधिवद्वेरपूजा विशिष्यते ॥३०॥

यजमाने मृतेप्येषा शाश्खतं भुवि तिष्ठति। खिलाधिकार १.

साकार-निराकार

साकार निराकार भेद से पूजा पुनः दो भागों में विभक्त हैं। (साकारश्च निराकारं हरेराराधनं द्विधा (प्रतिमाराधनं मुख्यं साकारमभिधीयते) (स्थण्डिले च जले चैव हृदये सूर्यमण्डले) आराधनं निराकारम्। क्रियाधिकार ९.१-३.

साकार ही प्रतिमाराधन हैं। वही मुख्या हैं। निराकार की पूजा तो स्थण्डिंल (उठी हुई चौकारे जमीन का टुकडा ऊर्ध्वत) जल, सूर्यमण्डल या हृदय में आवाहन करके ही की जा सकती हैं।

वासाधिकारने १.४९.

सवितुस्त्वग्नि हृन्मध्ये स्थण्डिले सलिलेपि वा। (देवस्थानं च संकल्य ध्यात्वा नित्यं समर्चयेत्।) और सबको समान रखते हुए उनपर ध्यान कर विष्णु का चिन्तन करे ऐसा न कह कर इनको मन्दिर समझकर जैसे मन्दिर में विष्णु की उपस्थिति है ऐसे ही इन में भू (सविता-अग्नि- हृदय-स्थण्डिल-सलिल) विष्णु की उपस्थिति माननी चाहिए और ध्यान करना चाहिए

सकामः निष्काम

पूजा के तीन भेद हैं १)पूजा२.यात्रा ३. उत्सव पूजाः पूजा प्रत्यह की जानेवाली सेवा हैं। सेवा भी सकाम निष्काम भेदसे दो प्रकार की हैं। यात्राः विशिष्टपर्वदिनों में, बहुजन समागम के अवसर पर के आगमन पर । उत्सवः वसन्तादि।

आभ्यन्तर - बाह्य

शंकर ने आभ्यन्तर बाह्य इस प्रकार दो भेद किये हैं विष्णुसहस्रनाम ५'तमेव चार्चयन्नित्यम्' पर टीकाकरते हुए- अर्चयन्। बाह्यार्चनं कुर्वन्; ध्यायन् आभ्यतंरार्चनं कुर्वन् अथवा अर्चयन्निति उभविधमर्चनमुच्यते। भागवत में भी अर्चन्नुभयतः कहा हैं। सेवा, यात्रा उत्सवः।

किसी भी प्रकार की पूजा को सेवा कहते हैं। यह प्रत्यह की जाने वाली सेवा हैं। स्मृति सम्मोदितसूत्रनिर्दिष्ट।

यात्रा विशिष्ट दिनों में पर्व के अवसर पर, बहुजन समागम के अवसर पर उत्सव वसन्तादिऋतु काल में , वार, तिथि, नक्षत्र उनके संक्रमण को लेकर भी स्मृति ग्रन्थों में

वर्णित हैं। अत्रि ने ५७.२ तीर्थोत्सव, शान्तिकोत्सव भक्त्युत्सव ऐसा भेद प्रस्तुत किया हैं।

मन्दिर-संस्कृति एक प्रकार की जीनव शैली ही हैं। वर्णाश्रमाचार में जीवन शैली आश्रमविभाग पर आधारित है जब कि वैखानस सम्मोदित मन्दिर- संस्कृति में जीवन का परमपुरुषार्थ केवल विष्णुपूजा वह भी प्रधानतया मन्दिर में नानाविध पूजा कार्य-प्रसङ्गों में काल-यापन हैं। उत्सव साधारणतया काम्यकर्म जैसा दीखता है शायद स्मार्ताचार में हो भी (उपनयन संस्कार को भी उत्सव कहते हैं तब इस पद को शास्त्रीय पद कहना होगा। होली दीवाली के उत्सव न मनाने पर पाप या प्रायश्चित की भीति नहीं रहती पर आलयीय उत्सवों के न मनाने पर प्रायश्चित्त का विधान है। अर्थात् ये उत्सव नित्यकर्म की कोटि में परिगणित हैं। प्राचीन ग्रन्थों में जिस उत्साह से यज्ञ कर्म को करने के लिए कहा है वह उत्साह परवर्ती ग्रन्थों में उत्सवों ने ले लिया है।

यात्रा पद बंगाल एवं उसके परिसर प्रान्तों में पूजा अर्थ में ही प्रचलित है। एक बात स्पष्ट है कि यात्रा करके उस स्थान तक जाते हैं जहां देव उपस्थित हैं वहां पूजा आदि करते हैं। आज कल वहां मेला भी लगता है एवं स्त्रियां बच्चे कुछ सामान भी खरीदते हैं। वैसे यात्रा पद का धार्मिक तात्पर्यार्थ तीर्थ यात्रा पद के साथ भी जुडा है।

मन्त्रों का विधान व प्रयोग

मन्त्रों के प्रयोग व विनिमय को लेकर पूजा एवं अन्य धार्मिक कृत्यों में विशेषतः स्मार्त कर्मकाण्ड एवं काम्य कर्मों में अनेक विधभेद देखे जा सकते हैं।

शौनकीय पद्धति, बोधायन पद्धति से पूजा तो प्राचीन काल से ही पृथग् पूजा पद्धति के रूप में प्रचलित है। ऋग् यजु का भेद भी है। सूत्रों की अनेकता तथा सूत्रकारों के वचन व प्रयोग इसके कारण है। शाखान्तर से प्रयोग व मन्त्रों को उपक्षिप्त करने के विकल्प ने मन्त्रों के प्रयोग पर से प्राचीन परम्परा की छाप हटा दी। परवर्ती काल में तो पौराणिक मन्त्र आगम मन्त्र तान्त्रिक मन्त्रों से उपचारों के अनन्य रहने पर भी मन्त्र विनियोग भेद अनेक स्थलों पर दृष्टि पथ में आया है। तब क्या परम्परा इसको सहन करती है ?

परम्परा का क्या अर्थ है। प्राचीन काल से ही शिष्टाचार, आप्त एवं रूढि जैसे पद प्रयोग में हैं। परम्परा पद प्राचीन पद नहीं है। आचार पद का प्रयोग उपलब्ध है। कुलाचार जैसे पद मध्यकाल के पश्चात् प्रयोग में आये। कौलाचार (कुल =कौल) एक सम्प्रदाय ही हो गया।

'गणानां त्वा' मन्त्र गणपति की पूजा में सर्वत्र उपयोग में है। पर इस मन्त्र का गणपति देवता का कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा अनेक विद्वानों का (डा. सम्पूर्णानन्द) मत है। वैखानसों की अपनी एक शाखा थी तो सूत्रकार ने पूजा के लिए तैत्तरीय ब्राह्मण से पूजा-मन्त्रों को क्यों चुना? कुछ स्थलों पर उपनिषत् वाक्य भी उपयोग में लाये गये हैं उनको भी उपचार से मन्त्र कहते हैं यह विषयान्तर है। उपनिषदों का वर्गीकरण वेद परक है सूत्र परक नहीं। अथाग्नौ नित्यहोमान्ते विष्णोर्नित्यार्चा सर्वदेवार्चना भवति 'आग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता इति ब्राह्मणम्' तस्मात् गृहे परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य सायं प्रातः होमान्तेऽर्चयति। यह मन्त्र ऐतरेय ब्राह्मण का है जो कि ऋग्वेद का ब्राह्मण है। इसमें पूजा करने के लिए नहीं कहा गया है। केवल इतना कहा गया है कि विष्णु सब देवताओं से ऊपर (श्रेष्ठ) हैं। पूजा विधि प्राप्त नहीं है।

तस्मात् गृहे परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य सायं प्रातः होमान्तेऽर्चयति। यह सूत्रकार का वचन हैं। यहां दो बात मुख्यतया गमनार्ह हैं - १. नित्य होमान्ते २. गृहे परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य सायं प्रातः होमान्तेऽर्चयति।

यहां होम की अवश्यकर्तव्यता को पूजा की अपेक्षा न्यून नहीं, आकलन किया गया हैं। पूजा करनी हैं पर होम करने के पश्चात् द्वितीय वाक्य खण्ड में गृहार्चा ही का कथन हैं आलयार्चा का नहीं। परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य का अर्थ है जैसे कि आनुवांशिक रूप से गार्हपत्यादि अग्नि या वांशिक परम्परा से पिता द्वारा पुत्र को प्राप्त होती देवकार्य में सायं समय करने की वर्ज्यता कहीं हैं। नित्य या काम्य न होने पर देवकार्य पूर्वाह्न में ही करना चाहिए। तब शाम की भी पूजा करने केलिए कहते हैं। अतः यह नित्य पूजा ही होनी चाहिए। नित्य माने अवश्य कर्तव्य जैसे सन्ध्या । न करने पर प्रत्यवाय की भीति पर घर में एक ही व्यक्ति करता है यही आचार हैं यद्यपि सभी व्यक्तियों को करने के लिए कहा गया हैं।

दूसरी बात जो ध्यान देने की हैं वह हैं- क्या यहां पूजा होम के अंग रूप में करने को कहा हैं या स्वतन्त्र रूप से? सूत्र में होमान्ते पद स्पष्टतः लिखा हैं। होमान्ते पदका अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है १. होमक्रिया के सम्पूर्णतः सम्पन्नहो जानेपर २. होमकी अन्तिम क्रिया के रूप में पूजा वैसे भी होमान्त में विसर्जन के पश्चान् वरुण आदि देवताओं को कुछ मन्त्रोच्चार कर आवाहन विसर्जन करने की परिपाटी है। क्या यह विष्णु पूजा उसी परिपाटी का पखर रूप हैं। इन्द्रादिदिग्देवतान् दक्षिणे ब्रह्मणां उत्तरे सोमं च पुष्पाद्यैरभ्यर्च्य तथैवाधारं जुहोति ४.१०

पर ४.११ सूत्र में ही विस्तार उपलब्ध हैं। ऊंभूः पुरुषं ऊंभुवः पुरुषः पुरुषः ऊंसुवः पुरुषं नारायणं विष्णुं पुरुषं सत्यमच्युतमनिरुद्धं श्रियं महीमिति नाम्नाआवाह्य यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि ऊपर पठित अग्नि वैंदेवानां मन्त्र पूजा सन्दर्भ में पठित नहीं हैं। और फिर अगले ही सूत्र में दो पुरुष तथा एक नारायण का नाम पढने के पश्चात् विष्णु पुरुष सत्य अच्युत अनिरुद्ध भी एवं मही का नाम पढा गया हैं।

केवल विष्णु की मूर्ति की प्रतिष्ठा की बात ४.१० में कही गयी हैं पर यहां नारायण और विष्णु को अलग पढा हैं तथा विष्णु पुरुष-सत्य अच्युत अनिरुद्ध-श्री मही का नाम तुरत पढा गया हैं जिनकी मूर्ति पहिले प्रतिष्ठत नहीं की गयी हैं। तब यह अनुमान करने का कारण हैं कि यह देवपूजन विष्णु- पुरुष सत्य- अच्युत- अनिरुद्ध का सम्प्रदाय पहिले हीसे था तथा उसे विखना मुनि ने अपने सूत्रों में स्वीकार किया आज भी श्री देवी का जितना माहात्म्य या प्राधान्य हैं उतना मही का या भूदेवी का नहीं यद्यपि उत्सवादियों में श्रीदेवी भूदेवी दोनों को श्रीमहाविष्णु के दोनो तरफ बैठ दिखाते हैं। नीला देवी का आचार ग्रन्थो तक सामित हैं आचार या कर्मकाण्ड में नहीं।

ब्रह्मवैवर्ते-यथा मुनीनां विखना आदि भूतः उदाहृतः।सूत्राणां तत्प्रणीतं तु तथाश्रेष्ठतमं स्मृतम्॥ ब्रह्म वैवर्त कौई पुरातन पुराण नहीं है परफिर भी आदिभूत विखना एवं ऽेष्ठतम सूत्र का सम्बन्ध जोडा है। बौधायन ने - वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रमुदाचारो वैखानस और तृतीयश्राम धर्मो का पाठ दिया हैं। सन्देह नहीं किशास्त्रसमदाचार कह कर वैखानस शास्त्र का प्राचीनत्व स्वीकार किया। अग्निवेश ने भी वैखानस का नाम लिया हैं पर पूर्वसूत्रों में नहीं आर्वाचीन सूत्रों में।

अन्य सूत्रों ने भी गृह्य धर्मादि का विस्तार दिया है पर सर्वत्र गृह्यधर्म क्रिया प्रतिपादक श्रुतियों का विनियोग नहीं दिया है केवल वैखानस सूत्रों में ही सर्वक्रिया कर्मों की समंत्रक प्रतिपादकता उपलब्ध है। मन्त्र की योग्यता के अभाव में भी पठित मन्त्र उपलब्ध है और जिन स्थानों में मन्त्र नहीं पढे गये है उन स्थानों में भी मन्त्रों की आवश्यकता नहीं हैं ऐसा समझकर उनस्थानों को भी समन्त्रक मानना चाहिए। मन्त्र से कर्म प्रखर होते है धार्म करने मे वीर्यवत्त धेते हैं। विना मन्त्रों धे महयोग धर्म गुणशून्य एवं फलरटित धेते हैं। ब्रहन्नारदीयका यह वचन् अमन्त्रतो हविर्यत्तु हूयते जातवेदसे। अपात्रे दीयते यच्च तद्धोरं भोगसाधनम्। अर्थात् यह अधःपात का कारण होगा। गीत में भी विधिहीनं मृसृष्टान्नं मन्त्रहीनम दक्षिणम् श्रद्धा विरहितं यज्ञं तामसं परीचक्षते।

८.पूजा में उपचार

क्रियाधिकार के दसवें अध्याय में उपचारों का वर्णन है। ६७ उपचारों की गिनती सर्व प्रथम की है। चतुषठ्युपचारांश्च १०.२ श्लोक सख्या ११-१६ तक में ६४ उपचारों को गिनाया है पर गिनती करने पर वे ४८ ही हैं। इसके पूर्व श्लोक संख्या ७ एवं ८ में सर्व विध उपचारों के लिए सामान्य उपचार दिए हैं वे भी आठ ही हैं। इस प्रकार कुल उपचार ५६ ही हैं और ८ उपचार कम पडते हैं। मरीचि ने १६ ही पढे हैं। वस्त्र एवं उत्तरीय दो पद पढे हैं।

खिलाधिकार ने ३२ गिनाये हैं जो इस प्रकार हैं - १.प्रणाम २. आवाहन ३. आसन ४. स्वागत ५. अनुमान(अनुज्ञा) ६.पाद्य ७.आचमन ८.पुष्प ९.गन्ध १०.धूप ११.दीप १३.अर्घ्य २३. आचमन १४.स्नान २५.प्लोत २६.वस्त्र २७.उत्तरीय २८.उपवीत २९.भूषण ३०.पाद्य ३१.आचमन ३३.पुष्प ३४.गन्ध ३५.धूप ३६.दीप ३७.हवि ३८. पानीय ३८.ताम्बूल ३९.आचमन ३०. होम ३१.बलि ३२.विसर्ग

अन्यत्र-

आसनं स्वागतं चैवानुमानं पादुकं तथा
पाद्यं च दन्तशुद्धिश्च आचामं तैलमर्दनम्
केशसंशोधनं स्नानं प्लोतवस्त्रोत्तरीयकम्
यज्ञोपवीतं गन्धश्च भूषणं पुष्पमञ्जनम्
आदर्शं धूपदीपौ च अर्घ्यं च मधुपर्ककम्
हविः पावकपूजा च पानीयं मुखवासनम्
बलिः प्रणाम स्युत्यं च पुष्पं चैवाञ्जलिः पुनः
एतै द्वात्रिंशत्कैर्मार्गैर्नृत्तगीतैर्यथोत्तमम्
एतेषां विग्रहणाञ्च विनियोगः प्रकथ्यते॥

अठ्ठारह उपचारः आसन, आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय, स्नान, वसन, उपनीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अन्न, तर्पण, माला, अनुलेपन एवं नमस्कार। पञ्चोपचारः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप व नैवेद्य.

मूलबेर की पूजा के लिए उपचारों की संख्या अधिक हो सकती है एतावता यह आवश्यक नहीं कि गौण देवताओं की पूजा के लिए भी उतने ही उपचारों का प्रयोग या विनियोग किया जाय।

पूजा में ३२ अपराध -

१.राजान्न भोजन २. बिना दांतमले भगवान का दर्शन ३. मैथुन के अनन्तरस्नान

के बिना भगवान की मूर्ति का स्पर्श ४. मृतक को देखने के पश्चात् बिना स्नान किए दर्शन ५. रजस्वला नारीके स्पर्श के पश्चात् बिना स्नान किए ६.मृत शरीर का स्पर्श करने के पश्चात् बिना शुद्धि किए ७. अधोवायु उत्सर्ग सेवा करते समय मन्दिर में कहीं भी पूजा करते समय पुरीषोत्सर्ग ९. पूजा में विहित मन्त्र स्तवादियों को छोडकर अन्य का उपयोग १०. नीलीसे रंगे कपडों को पहन कर पूजा करना ११. अविधान संस्पर्श, संस्पर्श - आचमन, अनाचमन, पूजा मध्य में देवतान्तरपूजन १२. पूजा के समय क्रोधयुक्त होना १३. पूजा काल में काम लोभ की उत्पत्ति निषिद्धफूलों से पूजा १४. रक्तवस्त्र धारणकर पूजा करना रक्त में गेरुआ शामिल नहीं है। १५. बिना दीपक के पूजा १६. कृष्ण वस्त्र पहिन कर पूजा १७. बिना धुले वस्त्र से पूजा १८. खानोच्छिष्ट नैवेद्य समर्पण वायसोच्छिष्ट १९. वाराह मांस भक्षण के पश्चात् पूजा २०.जालपाद -हंसादि के भक्षण के पश्चात् पूजा २१. दीपक स्पर्श के पश्चात् बिना हस्त प्रक्षालन पूजा २२. श्मशान ो के बाद, बिना स्नान किये पूजा २३. पिण्याक अर्थात् खली खाने के बाद पूजा २४. वाराह मांस का नैवेद्य अर्पण वाराह मांस युक्त भोजन में अन्यवस्तु भी २५. मद्य पीकर मन्दिर में प्रवेश २६. कुलुम्भ नामक शाक भक्षणपश्चात् पूजा २७. पारक्य या अवधूत की पूजा अवधूत का अर्थ अशुचि है। २८. नवान्न का बिना समर्पण उपयोग। २९. गन्धमाल्य के समर्पण के बिना धूप देना ३०. जूता पहिनकर मन्दिर में प्रवेश ३१. भेरी शब्द के बिना मन्दिर के कपाट खोलना ३२. अजीर्णता के कारण उद्गार की अवस्था में पूजा।

मुण्डित मस्तक बिना स्नान किये तथा सिर को अलंकार करके देवता सान्निध्य अपराध है। ये अपराध वामन पुराणोक्त हैं ।

आगमों में और भी अपराध दिये हैं -

१. जूता पहिनकर भगवान के मन्दिर को जाना २. उत्सवादियों में सम्मिलित न होना ३. भगवान को प्रणाम न करना ४. उच्छिष्ट या ५. अशौच अवस्था में वन्दन ६. एक हस्त प्रणाम ७.देवता के सामने पांव पसारना ८. शयन ९. भक्षण १०. मिंथ्याभाषण ११. जोर जोर से बोलना १२. झूठ बोलना १३. रोदन १४. निग्रह १५. अनुग्रह १६. क्रूर भाषण १७. कम्बल ओढना १८. परनिन्दा १९. परस्तुति २०. अश्लीलभाषण २१. अधोवायु विमोक्षण २२. अनिवेदितभक्षण २३. सामयिक फलादि भगवान को समर्पित न करना २४. बचे प्रसाद को लोगों में न बांटना २५. गुरु के प्रतिमौन २६. आत्मस्तुति २७. देवता की निंदा २८. भूमि पर बैठकर दूसरों का अभिवादन २९.

सामने ही प्रदक्षिण करना ३०. झगडा करना ३१. शक्ति के रहते भी गौणोपचार करना ३२. पर्यङ्कबन्धन -- ये अपराध हैं।

भृगु के प्रकीर्णाधिकार अध्याय २० एवं ३६ में मन्दिर में अपचार दिये हैं -

१. यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे ३६.१.

२. प्रदक्षिणं शनैर्गत्वा देवालयमुपाव्रजेत् २०.११३.

३. विमानं विष्णुरूपं स्यान्नतत्पादादिना क्रमेत् २७.२८०.

४. धामप्रदक्षिणे पूर्वं कुर्यात्तत्र नमस्क्रियाः

५. न लंघयेत् ध्वजच्छायां प्रदक्षिणविधिं विना
गोपुरस्यं विमानस्य प्राकारस्यालयस्य च २७.२८१.

६. यज्ञसूत्रमधः कृत्वाः कर्णे कृत्वा विशेषतः
अपसव्यं च धृत्वैव धृत्वा चैव विनीतवत्
नगाच्छवतागारं न वा मुक्तशिखो नरः
अकच्छः पुच्छकच्छश्च नग्नः कौपीनमात्रधृक् ३६.३१२-३१३.

७. यदा विशेद्गृहं विष्णोः सेवार्थं मधुविद्विषः
कृत्वोपवीतः सम्यगुत्तरीयं मनोहरम्
सेवेत देवदेवेशमुपावीतः सदाशुचिः
कंचुकिनावृताङ्गस्तु नगच्छेद्धरिमन्दिरम्
उष्णीषी न च सेवेत नैवपाणौ धृतायुधः
वस्त्रेणाच्छाद्य देहं तु कम्बलेनेतरेण वा ३६.५५५-५५८.

८. रिक्तहस्तः शून्यफालः त्यक्तसंव्यान एव च
खादन्नपि च ताम्बूलमुपहारादि भक्षयन्
देवालयं विशन्नेव तस्य पापं समुद्भवेत् ३६.३१४.

९. यो भुक्त्वा दैवतागारे निक्षिप्योच्छिष्टमत्रतु
गच्छेदन्यत्र वा प्रास्यात् सोपि मूढो विपद्यते ३६.३३६.

१०. आर्तो न प्रविशेद् गेहे देवस्य परमात्मनः
वायुभूते शरीरेस्मिन् वायुसंचारकर्मिणि
मलवायुविसर्गस्तु देवेगेहे विशेषतः
पातयेत्पुरुषं सत्यमपिवेदान्तपारगम्
इति देवगृहं गन्तुं व्याधितो नैव चार्हति ३६,५४८.५२.

११. मनोऽनवस्थितं यस्य न सालं पूजितुं हरिम्
यस्यैव निर्मलं चित्तं सोर्हः सर्वेषु कर्मसु
पूजा में तीन प्रकार के अपराध माने जाते है - वे है - अनपेक्षा, निमित्त, गुण।
देवपूजापराधास्ते द्वात्रिशंत् परिकीर्तिताः वा.पु.२५.२६.
अदत्वा गन्धमाल्यानि धूपं यो मे प्रयच्छर्ति वा.पु.२४.२६.
दन्तकाष्ठमखादित्वा यो तु मामुपसर्पति वा.पु.२५.१.
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्
नाशौचं विद्यते तस्य सपवित्रकरो यतः॥ वि. पु.३.७.३४-३५.

अवतारों में और मूलविराट में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते। विभूति शक्ति आदि पदों का प्रयोग या व्यूह जैसे साम्प्रदायिक अर्थनिष्ठ पदप्रयोग परमेश्वर की सर्वोच्च सत्ता या परिभाषा जिस को लक्षण पद भी कुछ दार्शनिक पद्धतियों ने किया है। यह सर्वोच्च ब्रह्म या विष्णु या नारायण प्रक्रिया भी है पदार्थ भी शक्ति भी है शक्तिमान भी। यज्ञ विष्णु है ऐसा अनेक स्थलों परम आया है और वह प्रक्रिया है वह सदा परिवर्तनशील है और सदा नूतन पदार्थ में परिणत होता है यह मूल दार्शनिक ज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन कराने का प्रयत्न है। अवतार इसी कडी में आते हैं। मूल से अवतार रूप में परिणत होते हैं और कार्यसम्पादन के पश्चात् पुनः मूलविराट् मे लीन हो जाते हैं जैसे अग्नि में काष्ठ या अन्य हविपदार्थ। व्यूह इस प्रकार की कार्य प्रणाली का एक प्राशासनिक विभाग है। अवतार का अर्थ नीचे उतरना इस अर्थ में नहीं है कि मूल से किसी प्रकार सत् में कम हैं पर भक्तों के और पास आगये हैं इस अर्थ में अवतार पदका प्रयोग है। जैसे राजा प्रजाके पास जाता है।

वायुपुराण २५/२६ में पूजा में ३२ अपराध कहे गये हैं। उनका प्रायश्चित्त भी कहा गया है। पूजा क्रमप्रयोगमध्ये भ्रमादिनार्पणे कृते तन्निमित्तमपेक्ष्य प्रायश्चित्तम्।

अकर्मण्येन पुष्पेण यो मामर्चयते नरः
पतनं तस्य वक्ष्यापि तच्छृणुष्व वसुन्धरे वायु.२४/६५.
वासी फूलो से जो पूजा करता है वह पतन हो प्राप्त होता है।

१२. यस्तु देवगृहद्वारि प्रसार्य चरणौ क्वचित्
शेते निद्राति सम्मोहात् स याति नरकायुतम्।
यातनाश्चानुभूयैव दौंब्राह्मण्यं व्रजेत्तु सः
यस्तु देवगृहे मूढः शयीत मदमोहितः॥ ३६.३३७.३४०.

१३. मुधा सम्भाषते यस्तु प्रविश्य हरिमन्दिरम्
तस्माद्देवगृहं गत्वा नरो नान्यपरो भवेत ३६.३८१-३८७.
१४. नहि देवस्य पुरतः क्वचिदप्यनृतं वदेत्
सत्यस्वरूपी भगवान सत्यं तस्मै न गूहयेत ३६.३८९.
१५. अनिबद्धप्रलापान् ये कुर्वते देवमन्दिरे ।
तेपि तित्तिरतां भूत्वा जायन्ते जन्मपञ्चकम्॥ ३६.४१०.
१६. नहि देवगृहं गत्वा विवदेत नरः क्वचित्
न तस्थानं विवादाय तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत्। ३६-४६८.
१७. नैवान्यं प्रणमेज्जातु प्रविश्य हरिमन्दिरम्
सहि सर्वेश्वरः शेषी यत्रास्ते रमाधवः ३६.५९५.
१८. नहि देवगृहं गत्वा पृष्ठीकृत्यासनं चरेत्
देवाभिमुख एवस्याद् भक्त : सर्वात्मिना नरः
१९. यस्वधिकारगर्वेण देवागारमुपाश्रितः
अकाले सेवितुं चेच्छेत् सोपि यास्यति दुर्गतिम् ३६.६२७.
२०. विषयाक्रान्तचित्तानां विष्ण्वर्चनमकुर्वताम्
पूजकेषु च पूजायां नीरसं भावमेति यः
सर्वथा निन्दितव्यो हि जीवितं तस्य निष्फलम् ३६.६३३-३६.
२१. ध्यातः स्मृतः पूजितो वा स्तुतो वाथ नुतोपि वा।
स्वपदं यो ददातीशिः तं वन्दे पुरुषोत्तमम्॥ बृहन्नारदीय
२२. डाकिन्यो राक्षसाश्चैव न बाधन्तेऽच्युतार्चकम् बृहन्नारदीय
२३. स्वाचारमनतिक्रम्य हरिभक्तिरतो हि यः
स याति विष्णुभवनं यद्वै पश्यन्ति सूरयः पूजाप्रकाश.पृ.२४
अपचारास्तथा विष्णो द्वात्रिंशत् परिकीर्तिताः।
यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे
देवोत्सवाद्यसेवा चऽप्रणामं च तद्यतः
एकहस्तप्रणामश्च तत्पुरस्तात प्रदक्षिणाम्
उच्छिष्टे चैवाशौचे भगवद्वन्दनादिकम्
पादप्रसाणं चाग्रे तथा पर्यङ्कबन्धनम्
शयनं भोजनं चैव मुधाभाषणमेव च

उच्चैर्भाषी वृथा जल्पो रोदनाद्यं च विग्रहः
निग्रहोऽनुग्रहश्चैव स्त्रीषु-साकूतभाषणम्
अश्लीलकथनं चैवाप्यधोवायुविमोक्षणम्
कम्बलावरणं चैव परनिन्दा परस्तुतिः
शक्तौ गौणोपचार श्चाप्यनिवेदितभक्षणम्
तत्तत्कालोद्भवानां च फलादीनामानर्पणम्
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिषु
पृष्ठीकृत्यासनं चैव परेषामभिवन्दनम्
गुरोर्मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा
अपचारांश्च विवधाहशान् परविर्जयेत् ३६.१-९.

पूजाक्रम - पञ्चबेर - परिवार प्राकारस्थिति बेर पदका अर्थ मूर्ति है।

पञ्चबेर विष्णु, पुरुष, सत्य, अच्युत एवं अनिरुद्ध ये पांच बेर हैं। मुख्य विष्णु ही हैं। समस्त देवताओं की नामोच्चार पूर्वक पूजा करनी चाहिए। इससे चारों वर्णों का उपकार होगा। इस से समृद्धि और सुखशान्ति प्राप्त होगी।

वि ष्णु विष्णु या नारायण ध्यान से गम्य हैं। अद्वैतके ब्रह्म से किस प्रकार असमान है इस पर अभी गवेषणा बाकी है। वैखानस स्मार्त १०.७, १०.१०, तैत्तरीय आरण्यक १०.११.१ में इसको विभु और सर्व व्यापक कहा है।

पुरुष जीव चैतन्य का अधिपति।

सत्य अनादि तथा कूटस्थ

अच्युत अविपरिणामी

अनिरुद्ध जो अवरुद्ध नहीं किया जा सके।

वैखानस पांच अग्नियों को भी मानते हैं एवं इन में कोई सम्बन्ध है ऐसा भी मानते हैं।

पञ्चबेर १.मूलबरे २.उत्सवबेर ३. कौतुकबेर ४. स्नपन बेर एवं ५. बलिबेर। श्रीदेवी भूदेवी के साथ।

ध्रुवबेर गर्भगृह में प्रधानविग्रह के रूप में स्थित है। यह अचल मूर्ति है एवं प्रायः प्रस्तर निर्मित होती है जब कि अन्य चारों मूर्तियां चल मूर्तियां

होती हैं। ध्रुवका प्रतिनिधि कौतुकबेर है। आराधना का स्थानापन्न।

स्नपन बेर प्रतिदिन स्नान इसी बेर का होता है।

उत्सव बेर उत्सव के अवसर पर काम में लाया जाता है।

बलिबेर मन्दिर की परिक्रमा में बलि दी जाती है। समूर्तपूजन का नाम ही बेर पूजन है। अग्नि में हुत करना अमूर्तार्चिन है।

पांच बेर क्यों हैं?

यथा चैकशरीरस्य कल्पिताः पाञ्चभौतिकाः
तथा चैकविमानस्य पञ्चबेरांश्च कल्पयेत्।
ध्रुवं च कौतुकं चैव औत्सवं स्नापनं तथा
बलिबेरश्च पञ्चैते पञ्चबेराः प्रकार्तिताः
ध्रुवं तु ग्रामरक्षार्थं अर्चनार्थं तु कौतुकम्
स्नानार्थं स्नापनं प्रोक्तं उत्सवार्थमथोत्सवम्।
बल्यर्थं, बलिबेरश्च पञ्चबेरान् प्रकल्पयेत्।
कौतुकं ब्रह्मणः स्थाने स्थापितं सम्यगर्चयेत्।
पञ्चाग्निविधिवच्चैव पञ्चबेरान् प्रकल्पयेत्।
अशक्त श्चैकबेरं वा कुर्यात् सभ्याग्निकुण्डवत्
यथा चैकशरीरस्य कल्पिताः पञ्चवायवः
तथा चैकस्य बिम्बस्य पञ्चमूर्तीः प्रकल्पयेत्

जैसे पांच वायु अलग अलग हैं वैसे ही पञ्चमूर्ति भेद से परमात्मा में भी भेद हैं। तस्मादाकाशादिमहाभूतानां परमात्मनि भेद एव। ... ... प्राणादि पञ्च वायुभेदैखि पञ्चमूर्ति भेदैर्भिद्यते। पोपूयमानः पञ्चभिः स्वगुणैः प्रसन्नैः सर्वानिमान् धारयिष्यसीति मरीचि पृ ५०९

विष्णुं च पुरुषं सत्यमच्युतं चानिरुद्धकम्
पञ्चभिर्मूर्तिमन्त्रैस्तं देवमावाह्य चार्चयेत्
आलये बहुबेरैस्तु युक्ते शोभा समन्विते
अत्यन्तप्रीतिसंयुक्तो भवेद्देवो जनार्दनः
अवतारसहस्त्रेषु विग्रहेषु बहुष्वपि
एकस्मिन्नर्चिते बिम्बे सर्वबिम्बार्चनं भवेत्
मूले सिक्ते यथावृक्षे शाखा भवति तेजसा अर्चनानवनीत.पृ.६२.

हरिश्रियोश्च सम्बन्धश्चन्द्राक्योरिव   अर्चनानवतीत.पृ.६४.

पूजा में आवश्यक उपकरण:

मरीचिने अपने विमानार्चनकल्पके २४ वें पटल में विशेषत: तथा २६ वें आभरण, रक्षादीप एवं पादुका तथा वाहनादि का वर्णन दिया है। अध्याय का नाम पात्रपरिच्छद है। ये पात्र सुवर्ण-रजत-कांस्य में से किसी एक धातु के बने हो सकते हैं। उनका परिमाण ध्रुवबेर के आकार के अनुरूप होना चाहिए। तीन अङ्गुल का पाद, मध्य मे विस्तार के अनुरूप गोलाई।

आवाहन पात्र पाद्य-आचमन-उदकपात्र, उन सबके साथ शंख भी।

पुष्पपात्र यह २६ अंगुल विस्तार का होना चाहिए। स्वर्ण का ही होना चाहिए न मिलने पर नारिकेल या ताड के पत्ते का बनावे।

गन्धपात्र इसका विस्तार ५अंगुल उदर पांचअंगुल विशाल एव मुख चार अंगुल। हां उसपर ढक्कन भी यथोचित होना चाहिए।

धूपपात्र ताम्बेका या पीतल का होना चाहिए। छह अंगुल विस्तार इतना ही ऊंचा, बाहर की ओर आठ पंखुडीयुत पुष्पके समान, पाद दो अंगुल उसमे पकडने के लिए दण्ड जो आठ अंगुल का हो। उसका निचला पाद पांच अंगुल विस्तार वाला हो पद्माकार हो जो नीचे पृथ्वी पर स्थिरतया टिक सके।

दीपपात्र दीपपात्र पांच अंगुल विस्तार का होना चाहिए। उसका बाहरी किनारा कमसेकम आधा अंगुल मोटा होना चाहिए। बत्ती रखने के लिए आठ, चार या एक ओर बत्ती रखने का आधार बना होना चाहिए। उसका पाद और दण्ड धूपपात्र के समान बना होना चाहिए।

घण्टा इसका विस्तार ६ अंगुल इतनी ही अंचाई शिखर एकाङ्गुल जिह्वा चार अङ्गुल बत्ती के समान ६ अंगुल ऊंचा दण्ड और दण्डके शिखराग्र पर चक्र या गरुड की मूर्ति और बाकी पारस्परिकता से युक्त।

महाघण्टा इसका विस्तार आठ अंगुल ऊंचाई भी इतनी ही मूलकी चौडाई ६ अंगुल ओष्ठ पट्टकाद्वय से युक्त एक अंगुल शिखर की ऊंचाई दो अंगुल जिह्वा नौ अङ्गुल और शिखर पर कुण्डली मारे शेषनाग।

घृतदीप मन्दिर की शोभा है। अनेक शिलालेखों में मन्दिर में अखण्डदीप केलिए दानका जिक्र है। करीब २६ गायों की आवश्यकता है। इससे खेती की समृद्धि होती है। ग्रामोद्योग बढता है।

अर्घ्यपात्र अर्घ्यपात्र का विस्तार दो अंगुल ऊचाई दो अंगुल पृष्ठपाद तीन अंगुल बनाना चाहिए।

हवि यह पात्र सोने, चान्दी, ताम्बे या कांसे का होना चाहिए। १२ अंगुल से ३६ अंगुल तक तीन तीन अंगुल पर विस्तार करते हुए ९ विस्तारों से युक्त भित्ति आधे अंगुल की ऊंची ओष्ठ दो यव के समान बाकी सब पात्र के अनुरूप बनावे।

पानीयपात्र यह सोने चान्दी ताम्बा या कांसे का होना चाहिए। विस्तार ६ से ७ अङ्गुल भित्ति तीन अंगुल उदरवलय (मध्यभाग) दस अंगुल देखने में सुन्दर आकृति बनावे।

ताम्बूलपात्र इसी को मुखवास पात्र भी कहते हैं। यह सोने, चान्दी, ताम्बे या काठ का बना हो सकता है। १२ अंगुल विस्तारवाला, समवृत्त, दो यव के बराबर मोटा, आधे अंगुल के बराबर ऊंचा दण्डा १२ अंगुल दण्डका विस्तार आठ अंगुल मूल से मध्य तक दो अंगुल से आठ अंगुल तक विस्तार चार अंगुल ऊंचाई तथा पाद पद्माकार बनाना चाहिए। त्रिपादिका, शंखपादिका, बकपादिका, स्थालिपादिका।

शंखपादिका दो अंगुल ऊंची और मुखविस्तार भी इतना ही अर्थात् दो अंगुल उसके तीन पाद एवं तीन जगह मुडी हुई यह शंख रखने का पीठ है।

बकपादिका मुख की चौडाई ६ अंगुल उसका चारगुना पाद का आयाम तीन जगह मोड लिए हुए तीन पांववाली पादका निचला भाग सिंहपाद के समान।

पात्रपादिका ६४ अंगुल विस्तार इतनी ही ऊंची पाद का निचला भाग पाद के समान स्थालिपादिका लोहे की भी हो सकती है।

पादोदक पात्र का मूल १६ अंगुल, मुख की चौडाई २० अंगुल, ६ अंगुल ऊंचा, ओष्ठ दो अंगुल विस्तृत दीखने मे शकोरे के समान उसके दोनों ओर

मकर के मुंह के समान आकार पृष्ठभाग दो अंगुल मोटा, तीन पाद जो दो मोड लिए है। नीचे का भाग सिंहपाद के समान बाकी सब आकार के अनुरूप बनावे।

आचमनपात्र आचमन किए हुए जलका संग्रह पात्र। ऊंचाई १२ अंगुल नीचे का भाग ६ अंगुल चौडा और ऊंचा, ऊपर का मुखभाग १२ अंगुल ओष्ठ एक अंगुल चौडा दीखने में धतूरे के फूल के समान इसे दण्ड भी लगाया जाता है जो चार अंगुल का हो और पादपीठ गोल हो जो चार अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौडा हो तीन अंगुल ऊंचा हो।

गण्डि विस्तार १२ अंगुल मध्यभाग ऊंचाई इसकी आधी नीचे ६ अंगुल कण्ठ चार अंगुल ओष्ठ दो अंगुल मुखकी चौडाई चार अंगुल जलप्रवाह की अनुकूलता के लिए नासिका ओष्ठ से संलग्न गोल आकार जिस की मोटाई दो भाग कनिष्ठ अंगुली के समान पृष्ठभाग चार अंगुल लम्बा और चौडा दो अंगुल ऊंचा बाकी सब पात्र के अनुरूप। गण्डि वृक्षके मूलसे शाखाओं के प्रस्फुटन तक के स्थूण को कहते हैं शायद इसका आकार ग्लास जैसा हो।

सहस्त्रधारा नित्य नैमित्तिक अभिषेक के लिए एक हजार छिद्रवाला एक पात्र। यह सुवर्ण या अन्य इसी प्रकार की धातुओं का बना होना चाहिए। २४,१६ या १२ अंगुल विस्तार आयाम होना चाहिए समग्र आकार गोल हो, चारों ओर की ऊंचाई एक अंगुल ओष्ठ एक अंगुल कर्णिका के आकारवाला (कर्णिका कमल के उस भाग को कहते हैं जो कमलनाल के ऊपर एवं पंखडियों के नीचे होता है हिन्दी में छत्ता भी कहते हैं)

शंखनिधि-पद्मनिधि शंख एवं पद्म के समान आकार वाले दो पात्र। इन में करीब ढाई सेर समाने वाले उदरका २६ अंगुल वृत्त आयत एवं ६ अंगुल वृत्त पानी के निकासी के लिए एक नालिका बाकी सब पात्र के रूप के अनुरूप।

दीपाधारपात्र इसकी ऊंचाई एक हाथ से लगा कर नौ हाथ तक तथा ऊंचाई का पांचवा भाग पाद विस्तार गोलाई (पादकी) समान पद्माकार और

उसके आठवें भाग के कम या बराबर घी संग्रह का आधार और सबसे ऊपरी भाग में मुकुल के आकार जो पूरे पात्र के आठवें भाग के बराबर हो, मध्यमे एक, तीन, पांच, सात, नौ, एकादश, तेरह, पन्द्रह घी के स्थान (निर्गमन) रहें (जिसमें बत्तियां रखी जा सके) बीच में अनेक पट्टियां व अनेक कुम्भ भी रहें बाकी को रूप के अनुरूप बनावे।

दीपाधार प्रतिमा। आज्यस्थाली (घृतपात्र) को अपने दोनों हाथों मे धारण करने वाले नग्न काय पुरुष या स्त्रियों का निर्माण करे।

दीपमाला द्वार के दोनों तरफ ताम्र लोह या काष्ठ का दीपमाला दण्ड बनावे जिस की ऊंचाई द्वार के समान हो चार अंगुल चौड। तीन अंगुल घन चार अंगुल लम्बा तीन अंगुल विस्तारयत हो जिस में दीपाधार के दण्ड के साथ जोड दिया गया हो।

करदीप पात्र इसका आकार धतूरे के पुष्प के समान एक अंगुल ऊंचा धुमावदार बांकापन लिए अग्रभाग में दीपधारा को दिखाते हुए मुखभाग तीन अंगुल या चार अंगुल गहराई चार अंगुल मोटाई यव के बराबर नीचे काठ की बनी मुट्ठी, एक या दो, मिलाकर हस्तदीप बनावे।

नीराजनपात्र स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य इनमे से किसी एक धातु से बनावे। २४,२६ या १२ अंगुलि विस्तार समवृत्त अर्धाङ्गुलि भित्ति ऊंची उसके अनुसार सीमाविस्तार पात्र के मध्य में, एकभाग में अब्जदलयुत तथा यह भाग एकांगुल उन्नत, कर्णिका मध्यभाग की लम्बाई तीन अंगुल, एक अंगुल ऊंचाई मध्य एवं अन्य नौ दिशायें परस्पर जुडी हुई जिनमें दीप रखा जा सके, बीच बीच में मुट्ठी से जोडकर एक पाद बनावे जो जिसका ४६ अंगुल पाद विस्तार हो।

दर्पण यह शुद्ध कांस्य का होता है। इसका नव, ग्यारह या तेरह अंगुल वाला विस्तार आयाम होता है। पूर्ण चन्द्राकार याने गोल होता है। इसका नाल (हेण्डल) आठ अंगुल या बारह अंगुल होता है। नाना पट्टिकाओं से युक्त बनावे।

पादुका स्वर्ण रजत या ताम्र की होनी चाहिए।

जलद्रोणी स्वर्ण रजत या ताम्र की होनी चाहिए। यह सुदृढ निर्विवर (किसी

छिद्र के बिना) गोल या चौकोर कण्ठहीन पार्श्वमें कडे लगाये गये हों। बाकी सब उसके आकार के अनुरूप बनावे। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कार्य सम्पादन में उपयोग में लायी जाने वस्तुओं का भी वर्णन है। जिन का वर्णन दिया गया है वे है - १. तरङ्ग, स्तम्भवेष्ठन, वितान, ध्वज, पताका, यवनिका ये सब वस्त्रनिर्मित है।

२. छत्र, पिच्छ, जिनछत्र, व र्षछत्र, चामरदण्ड, मयूरव्यजनदण्ड क्षौमादिव्यजन, शिविका।

३.शिविका, रथ, खट्टवा, उपधान, पुष्पफलक, विष्टर, आसनविष्टर स्नानविष्टर।

४. भेरिका, कर्त्रिका फलक, उलूखल, मुसल, दात्र, खनित्र, पेषणी यन्त्रिका।

इसके अतिरिक्त आभरण, उनके संरक्षण के उपाय, तेज को अधिक कान्तिमय बनाने के उपाय, रक्षादीप, पादुका संस्कार, बाहन मुख्यपूजा के अतिरिक्त काम में आने वाले पात्र जैसे अंकुरार्पण के लिए आवश्यक पालिका, कुम्भ, शराव धान्यादि रखने के पात्र आदि अनेक विध पात्रव उपपात्र दिये हैं।

आभरणों का वर्गीकरण शिर, मस्तक, नासिका, कर्ण, कण्ठ, हस्त, बाहु, उदर, पादादि प्रकार से है। यह सूची अतिदीर्घ है।

पूजा के लिए आवश्यक उपकरण –

१.मूर्ति ग्रबेर।

२. पूजा उपचार विधि।

३. सम्पादन अर्चक, वेदवित् और वैखानस आगम का विद्वान्।

४. प्रयोग उपचार के लिए आवश्यक सामग्री जैसे पुष्प दीप केलिए घी आदि।

वैखानस आगम के अनुसार षट्काल पूजा का विधान है - १.प्रत्यूष २. प्रभात ३. मध्याह्न ४. अपराह्न ५. सायं तथा ६. निशि।

पूजा क्रम

१. मन्त्रासन - मुखप्रक्षालन दन्तधावनादि

२. स्नानासन - गात्रप्रक्षालन

३. अलंकारासन नूतन परिधान तिलक आदि

४. भोज्यासन - निवेदन - भोग १.भृगुसंहिता

हविरर्पणकाले तु न सेव्यो हरिरुच्यते।
तस्माद्विखनासानां हित्वा ब्राह्मणा अन्यसूत्रिणः।
न विशेयुस्तथान्ये च तत्काले विष्णुमन्दिरम्।
कपाटं बन्धयेत् पश्चात् घण्टा नादं च कारयेत्॥

दक्षिण के मन्दिरों में भगवान को कच्चा अन्न का ही भोग लगाया जाता है।

५.यात्रासन - बलि होम मूर्ति को शोभायात्रा के लिए बाहर ले जाया जाता है।

६. शयनासन · शयन अर्द्धयाम पूजा के बाद

७.मन्त्रासन में अर्घ्य पाद्य आचमन समर्पण किया जाता है।

८.स्नान क्यों कि ध्रुवबेर का नित्यस्नान कठिन है अतः कौतुक बेर का ही स्नान होता है। कौतुक बेर को ध्रुव बेर से स्वर्ण तन्तु से संयुक्त रखा जाता है और स्नान के समय में विच्छिन्न करते हैं। कहीं कहीं स्वर्णमयपाद, कवच का भी स्नान कराते हैं इसके बाद फूल ध्रुवबेर के पादमूलमें रखते हैं।

९. अलंकारासन वस्त्र आभूषण यज्ञोपवीत उत्तरीय आदि अष्टाक्षरी मन्त्र से किया जाता है। ऊर्ध्वपुण्ड्र अलंकार है। मन्त्र पुष्प का पाठ इसके बाद किया जाता है।

पूजा अत्रि १९, ४० मरीचि ४९ भृगु ३२ आदि में प्राप्त है।

वैखानस मतानुसार पूजा का अर्थ बहुत व्यापक है। पूजा इन सबके सम्मिलत योगका नाम है - १.कर्षण, २.प्रतिष्ठा ३. पूजा ४. स्नपन ५. उत्सव तथा ६. प्रायश्चित।

शिल्प में - प्रासाद, विमान, नागरनिर्माण ऐसे तीन भेद देखे जा सकते हैं। राजाओं का प्रासाद दैवताओं का विमान और दोनों का मिलकर नागर निर्माणा वैखानस ने पूजा को एक व्यक्ति विशेष से हटाकर एक समुदाय विशेष का बना दिया है। उस समुदाय में उत्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है। व्यक्तिगत पूजा गृहार्चाके रूप में मानने परभी आचार्य अर्चक को ही पूजा करने के लिए कहते है। व्यक्तिगत पूजा की तुलना में आलय पार्चाया सामुदायिक पूजापद्धति

को अधिक महत्वदिया है गृहार्चाकी तुलना में आलयार्चा ही प्रधान है। वैसे अर्चक को भी गृहार्चा तथा अन्यनित्यकर्मों को करने के बाद ही मन्दिर के कार्य करने का अधिकार हैं।

१०.भोज्यासन अर्चक के अलावा और कोई नहीं रहता है।

११. **पूजा विधि**- पूजा उपचारों का समन्वय है। धूप, दीप, नैवेद्य, मन्त्रोच्चार अलंकार जिस में पुष्प वस्त्र भी की उपचार परिकल्पना का समन्वय है। क्रम पूजा में सर्वत्र रहता है। यह यहां का क्रम है। जब षोडशोपचारों से अधिक उपचारों से पूजा की जाती है तब भी इस क्रम की रक्षा की जाती है।

धर्मकीर्ति कृत प्रमाणवार्तिक में लिखा है।

न किञ्चिदेकमेकस्मात् सामग्रथाः। सर्वसम्भवः.१३-५३६.

किसी एक वस्तु को पूर्ण कारण नहीं मानना चाहिए। क्यों कि कारण तो अनेक वस्तुओं के संघात से पैदा होता है। संहतौ हेतुतां तेषाम् -२.२८ इसीलिए पूजा में अनेक उपचार होते हैं और सभी मिलकर एक कारण (हेतुता) बनते हैं।

पूजा करने का समय -

तस्मात -अग्नौ नित्यहोमान्ते विष्णोर्नित्यार्चा गृहे देवायतने वा भक्त्या भगवन्तं नारायणमर्चयेत् इति मरीचि. पृ.३.

अर्चा

अर्च्यत्वाज्जलपुष्पाद्यैः कीर्तितार्चेति सूरिभिः।
सर्वमङ्गलकारित्वात्कौतुकं ह्यभिधीयते ॥ अत्रिसमूतर्तिनाधिकारण २४.२.

मूर्ति - अर्चावतार - में प्राणप्रतिष्ठा की जाती है मन्त्रोच्चार द्वारा। इस मन्त्रोच्चार से मूर्ति में एक नयापन आता है। एक नयी शक्ति आती है। इस दिव्य शक्ति के मूर्ति में प्रवेश को विभव कहते हैं। इस विभव के पश्चात् ही वह बेर प्रस्तरमूर्ति अर्चावतार बन जाती है। अर्थात् इस मन्त्रपाठ द्वारा प्राकृत और अप्राकृत संसर्ग होता है और तब यह मूर्ति प्राकृत और अप्राकृत दोनों रूप धारण करती है। विष्णु का देह अप्राकृत है और प्रस्तर मूर्ति प्राकृत। सर्वव्यापी और अन्तर्यामी विष्णु उस मूर्ति में दिव्य तेज को भर देते हैं। यह दिव्य तेज ही विभव कहाता है। उस मूर्ति में आवेशरूप से विष्णु तेज रहता है। सारे विभव अवतार अनिरुद्ध से ही प्रस्तूत हे। मुख्यावतार विष्णु ही हैं।

अर्चावतारो नाम देशकालविप्रकर्षरहितः आश्रिताभिमतद्र्व्यादिक शरीरतया

स्वीकृत्य तस्मिन्नप्राकृतशरीरविशिष्टार्चकपराधीनस्नानभोजनासनशयनस्थितिः सर्वसहिष्णुः परिपूर्णो गृहग्रामनगरप्रशस्तदेशशैलादिषु वर्तमानो मूर्तिविशेषो अर्चावतारस्तु आश्रितपराधीनैयत्येनात्यन्त सुलम इति समाश्रयणं सुकरम्। तत्त्वदीप पृ. २३४. ध्रुव बेर -गर्भगृह में मुख्य विग्रह के रूप में स्थित है। यह प्रायः पत्थरका होता है। अन्यचारों चल मूर्तियां है।

ध्रुव का प्रतिनिधि कौतुक बेर है। आराधना का स्थानापन्न। स्नपन बेर प्रतिदिन स्नान उत्सव बेर - उत्सव के लिए बलि बेर - मन्दिर की परिक्रमामें बलि दी जाती है।

मूर्ति वह यन्त्र है जिससे दिव्यत्व का एक या एकसे अधिक आयाम सामने लाया जा सकता है अन्तश्चेतना याअवचेतना की सहायता के लिए।

मन्दिर भारतीय समाज की हृदयगति है। यह केवल एक आयतन नहीं हे। संसार पराङ्मुखता का केन्द्र नहीं है। यह तो धर्मस्थल हे। चारों वर्णों के लिए चारो आश्रमों के लिए लिंग निर्विशेष वयः निरपेक्ष।

ध्रुवबेर का स्थापन उत्तरायण में ही करना चाहिए।

ध्रुवबेरस्य स्थापनं कुर्यात् अयने चोत्तरे शुभे अत्रि १४.१ दक्षिणायन में यदि किया जाय तो। पुण्यनक्षत्र में स्थिर राशि में ही किया जाय। मार्गशीर्ष तथा मख दोनों मास वर्जित है। एक दिन पुर्व अंकुरार्पण करे। शूलस्थापन मार्ग में यागशाल बनावे वहां पर पञ्चाग्नि केलिए कुण्डों का निर्माण करे फिर अधिवास करे बेर शुद्ध्यर्थ।

जैसे पाषाण बेर केलिए शिलासंग्रह किया जाता हैं वैसे ही दारु ध्रुवबेर केलिए भी। वनराज की पूजा वृक्ष काटने के पूर्व करनी चाहिए। अत्रि अध्याय १५.

तेष्वर्चनं सर्वार्थसाधकम् -मरीचि

अर्चात्मन्येव सर्वेषामधिकारो निरंकुशः।

विशेषभक्तिहेतुत्वात् प्रतिमाराधनं परम्॥ प्रकीर्णाधिकार ३३.३३.

पञ्चबेर — विष्णु, पुरुष, सत्य, अच्युत, एवं अनिरुद्ध ये पांच बेर हैं। मुख्य विष्णु ही है पर समस्त देवताओं की नामोच्चार पूर्वक करनी चाहिए। इसमें चारों वर्णों का उपकार होगा। इससे समृद्धि और सुख शान्ति प्राप्त होगी।

बेर — अर्थ मूर्ति है।

विष्णु — विष्णु या नारायण ध्यान से गम्य हैं। ये शायद अद्वैत के ब्रह्मन् के समान है। वैखानस स्मार्तसूत्र १०.७; १०.१० तैत्तरीय आरण्यक १०.११.१. में विभु और सर्व व्यापक कहा है।

पुरुष जीव चैतन्य का अधिपति।

सत्य अनादि तथा कूटस्थ।

अच्युत अविपरिणामी।

अनिरुद्ध चो अवरुद्ध नहीं किया जा सकता ये पञ्चाग्नि यों को भी मानते हैं। इन पञ्चाग्नियों का और पञ्चबेरों का कोई सम्बन्ध हैं कि नहीं मालूम नहीं

पञ्चबेर १. मूलबेर २. उत्सवबेर ३. कौतुकबेर ४. स्नपनबेर एवं ५. बलिबेर श्रीदेवी भूदेवी के साथ

भो स्वामिन् जगतां नाथ यावत्पूजावसानकम्।

तावत्संप्रीतिभावेन बिम्बेस्मिन् सन्निधौ भव॥ पूजा प्रकाश पृ. १३६.

मूर्ति में प्रविष्ट होने के लिए भगवान की प्रार्थना की जाती है।

रज्जुभिः सुदृढैः सम्यग्वध्वा बेरं यथार्हकम्।

समुद्धृत्य च यन्त्रैश्चविमानं प्रविशेक्रमात ॥२५॥ अत्रि १४.२५

स्थापयेदचलं बेरं अष्टवन्धं प्रयोजयेत् अत्रि १४.३१

कारयेदक्षिमोक्षान्तं बिम्बं नयनबन्धनम् अत्रि १४.३६

१ पूजा के तीन क्रमिक२८ विकास माने जा सकते है -

पुरातन तम वैखानस स्मार्त सूत्र ४.१२ में प्राप्त है।

अत्रिसंहिता १ अध्याय में भी ऐसा ही देखा जा सकता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि पूजा प्रारम्भ में व्यक्तिगत ही थी। सामूहिक पूजा बाद में विकसित हुई स्मार्त के बाद ही श्रौत प्रक्रिया व्यवहार में आई होगी।

द्वितीय अत्रि ४० मरीचि ४१ भृगु ३२ में मिलेगा।

तृतीय अर्चनाखण्ड।

अर्चनानवनीत रंग सामी सम्पादित।

भक्त केलिए -स्नान ध्यान आदि नमस्कार स्तोत्र।

पूजा का कार्य विधान पूजा पद्धति।

पूजा केलिए आवश्यक सामग्री नैवेद्य धूपदीप उपकरण इत्यादि।

ननु प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमा न्यायेन भविष्यति विष्णु सहस्रनाम शंकरभाष्य पृ. ३५.

शंकर ने पूजा को ब्र.सू ३.४.३८

पुरुष मात्र संबन्धिभिर्जपोपवासदेवतराधनादिभि धर्म विशेषेरनुग्रहो विधायाः

इसपर — जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मण उच्यते कुर्या दन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते मनु २.८७ उद्धृते किया है।

यो यमर्थं प्रार्थयते यदर्थं घटतेपि च —

अवश्यं तदवाप्नोति न चेत् श्रान्तो निवर्तते १. कर्षण २. प्रतिष्ठा ३. पूजा ४. स्नपन ५. उत्सव ६. प्रायश्चित्त.

कर्षण में सर्वप्रथम मुहूर्त का विचार किया जाता हैं। प्रकीर्णाधिकार १.५-२४ में इसका विस्तार से वर्णन प्राप्त हैं। भूमि चयन यजमान का वरण - ऐतैश्च विधिभिर्विष्णो रालयार्चन कर्मणि ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो यजमानत्वमर्हति—

यदि शूद्रोऽनुलोमश्च कर्तुमिच्छेत्तु भक्तिमान्।
राजानं यजमानं हि कल्पयित्वारभेत्पुनः।
तथा कर्ता तु शूद्रादिः समग्रं फलमान्पुयात्।
सूतादि प्रतिलोमस्तु कर्तुं नार्हति किंचन॥ सकलाधिकार १.४१-४४.

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तो यजमान हो सकते हैं। यजमानभी विष्णुभक्त, निश्चलमन धनधान्यसमृद्ध हो। आचार्यवरण भी एक प्रधानांश है।

आचार्य भूमिकी परीक्षा करे पर यजमान के साथ। शायद यजमान की खरीदारी में कमीशन मार ले।

इसके पश्चात् अङ्कुरार्पण का कार्य सम्पन्न होता है। अंकुरार्पण वैष्णवी भूमि मे ही करना चाहिए।

अंकुरार्पण:

आचार्यो यजमानो वा वापयेदङ्कुरान् शुभान्
जलेन सेचेयन्नित्यं दीपं च परिरक्षयेत्
यथाङ्कुरा सुसम्पन्नः तथा यत्नेन रक्षयेत्॥ क्रियाधि कार १.५५.

क्रियाधिकार १.५५-५८ में अङ्कुरों के निमित्त या शकुनका ज्ञान भी लिखा हैं। श्यामेषु द्रव्यनाशः। रक्तेषु कलहो भवेत् तिर्यक्तेपुरोगः स्वात् इत्यदि।

भूपरीक्षण के निर्देश भी दिये है -

चतुराश्रमायताश्रां वा प्रागानतामुत्तरानतां समां वा भूमिं शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धैः संपरीक्षयेत्। वीणावेणुदुन्दुभि गजतुरङ्गवेदाब्धिध्वनियुतां सुखस्पर्शां श्वेतपीतरक्त कृष्णवर्णाभां मधुराम्ल तिक्तकटु कषाय लवणरसां सुगन्धसंयुक्तां प्रदक्षिणोदवर्ती क्षीरवृक्ष तुलसी कुशदर्भ विश्वामित्रविष्णुक्रान्त स्थलारविन्द दूर्वायुतां भूमिं सुमुहूर्ते गृहीत्वाचार्यः

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा नीत्वा यस्मिन् देशे जीवन्न इति जलं प्रक्षिप्य मेदिन्यादिना हस्ताभ्यां भूमिं भिमृशेत् 'इदं विष्णुः' ऋ १.२.७. इत्याहरेत् विमानार्चन.२.६.७.

कषर्णः

ब्राह्मणो यजमानश्चेत् युगं वैणमाहरेत।

चम्पकं क्षत्रियस्योक्तं वैश्यः पुन्नागमाहरेत्

शूद्र उदम्बारमाहृत्यअवक्रं सम्यक् आहरेत् ॥ खिल ३.४.

यधं वा शुद्ध

कषर्ण केलिए ब्राह्मण क्षत्रियादियों केलिए पृथक् दारुयुगका प्रयोग कहा गया है।

भृगु ने अर्चनाधिकार में (अध्याय ३) क्षत्रियका बिल्व तथा शूद्र का वर्वर ऐसा कहा है। काष्ठ में एकमत्य न होने पर भी वर्णों के प्रयोग-पार्थक्य में मतैक्य है। जंगल से लकडी काटने पर भी सावधानी की आवश्यकता हैं। पहिले वृक्षकी प्रार्थना करे। वृक्ष से लकडी ब्राह्मण नहीं तक्षक ही काटेगा। लकडी जब गिरे तो गिरने वाली शाखा उत्तराग्र या प्रागग्र ही गिरे इसका ध्यान रखा जाय। क्रियाधिकार २.२६.४० में वृक्षमूल में किये जाने वाले देवतार्चन बलि होम आदि का विपुल वर्णन प्राप्त है। लकडी की छाल नहीं जंगल में निकालकर सारयुक्त भागे ही सिर पर रखकर देवतागार को लावे और उस काष्ठ ऐशन्य या उत्तरदिशा में रखे।

अगर काष्ठ लकडी वर्णानुसार है तो रज्जुभी वर्णानुसार और उस रज्जु द्वारा दी जाने वाली गांठ भी वर्णानुसार पृथक्।

ब्राह्मणो यजमानश्चेत्पाशं मौञ्जीमयं हरेत्।

क्षत्रियो धातकी वाल्कं वैश्यः कैतकमाहरेत्।

शूद्रो मौञ्जीमयं गृहा त्रिवृतं सम्यगाहरेत्। खिल. ३.२१-२.

और हल चलाने केलिए वैलों का रंगभी वर्णानुसार (यजमान) के होना चाहिए। श्वेतरक्त हरितासित वर्णक्रम से होना चाहिए। काश्यप ज्ञानकाण्ड २२.१२.

भूमिप्रवेश भी एक धार्मिक संस्कार है।

रूपयौवनसम्पन्नां वस्त्रैराभरणैरपि

श्वैतगन्धैश्च माल्यैश्च दर्शनीयामलंकृताम्

स्त्रियमाहूय तद्धस्ते दक्षिणे कमलं नवम्

वामे दीपं च दत्त्वैनामग्रतो गमयेत् स्त्रियम्।

तूर्यघोषयुतं गत्वां तां भूमिं संप्रविश्य च॥ अत्रि समूर्तार्चनाधिकार.३.११-१३.

विमानार्चनकल्प ३.१४ में वैष्णवों के साथ भूमि प्रवेश ऐसा लिखा है। काश्यप ज्ञानकाण्ड २२.४२ नागों को बलि देना नहीं भूलते २२.४२

सीमा निर्धारण भी एक मन्त्रोक्त ही हैं। पश्चिम में आरम्भका पूर्वदिशाकी ओर हाथ में स्थित जलपूर्णकलश से जल समन्त्रक गिराते हुए जाय 'धारासु' इति मन्त्र का प्रयोग करे। भूमिशोधन की अनेक प्रक्रियाये दी हैं। काश्यपज्ञानकाण्ड २१.४०.

भूसूक्त का पाठ करे तथा दोषवर्जित भूमि का ही ग्रहणकरे। यह भूमि विष्णु की है। अतः अन्य भूत असुरादि सब इसभूमि से निकलजायं यह प्रार्थन करे — अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्चासुरादयः विमानार्थं गृहीतेयं भूमिविष्णोरिति ब्रवन्। क्रियाधिकार २.७-८.

विष्णुसूक्त से बीजों का अभिमर्ष करे फिर बीजावाप करे। बीजावाप के लिए विष्णुसूक्त और 'दैवित्वयि' मन्त्र आचार्यों ने पृथकशः पढे हैं।

समूर्तार्चनाधिकरण में ५.३-८ एक शार्टकटदिया हैं इसको सद्यः कर्षण कहा है।

सद्यः कर्तुमशक्तो यजमानोऽथ तद्भुवम्
एवं तां कर्षयित्वैव द्रूर्वादीनि तृणानि च
बहुलान्त्येव संहृत्य भूमौ सर्वत्र तत्र वै
विप्रकीर्य च गाः सर्वाः सवत्साः संप्रवेशयेत्
तृणेषु गोमिग्रस्तेषु तृणान्यास्तृणुयात्पुनः
गोगणैरपि सं क्रान्ता भूमिः शुद्धाभवेत्ततः
गोमूत्रैर्गोमयैदुधैर्वत्सास्यानिः सृतैरपि
स्वयं च पतितै रोमैः फेनैः श्वानेस्तथैव च
यातेश्च शयनैस्तासां खरेः पूर्णैश्चि पाटनः
भूमिः शुद्धाभवेदेव मेववमिति धमविदो विदुः॥

अगर भूमि शुद्धि करने में विलम्ब होता हो तो भू-शुद्धिका सद्यः उपाय दिया है गायों और वच्छडोंको उस भू-माग में छाडे दे उनको खाने के लिए घासभी। गायों के खाने के बाद अवशिष्ट ग्रास, गोसूत्र, गोमूत्र, गाबरा जहां जहां सोती यालाटती हैं वह भूमि उनके रोम जहां गिरते है उनका मुखफेन श्वास जहां छूटता है। वह भूमिशुद्ध

हो जाती है धर्मविदों कामत है। समूर्तार्चनाधिकार ५.३-८. के निर्माण के बिना पूजा और बालालय में अर्चन होते हुए विमान का निर्माण बालालय में अर्चन करते हुए विमान निर्माण सामृत तथा बिना बालालय के पूजा प्रारम्भ करना कारक कहाता है। बालालय प्रायः जितना मूल या ध्रुव बेर के लिए स्नान अधिवास होमा आदि प्रयुक्त है। उतना ही बालालय की मूर्ति के लिए भी।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ मानसोल्लास १०.२३.

जिस को देवतामें परा भक्ति है। गुरु में देवता के समान भक्ति है। उस महात्माके हृदयमें यहांकहे गये सत्य प्रकाशित होते हैं।

अध्याय सात

सामाजिक स्थिति

जितने प्रकार के अनुलोम प्रतिलोम और अन्तराल दिये हैं उनसे पता लगता है कि समाज सरल न था। व्यवस्था संहिताओं के अनुरूप शत प्रतिशत रूप से नहीं चल रही थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि समाज काफी उन्नत था।

समुद्र व्यापार करनेवाले व्यापारी एवं नाविकों का पृथक् वर्ग था। नाभि से ऊपर वपन करनेवाले और नाभि से नीचे वपन करनेवाले नापित अलग अलग थे।

जितने प्रकार के मन्दिरों के नाम लिए गये हैं, आयाम विस्तार बताया गया हैं प्रसाद की मात्रा बताई गयी है वे अति उन्नत समाज को ही बताते हैं।

नृत्य संगीत के बिना कोई भी उत्सव सम्पन्न नहीं होता अनेक प्रकार के वाद्यों के नाम पठित है सुगन्धित द्रव्यों के विशेष प्रयोग से समाज की परिमल प्रियता सिद्ध है वैखानस सूत्र.२.१४. भोग में गेहूं, जौ, चावल तीनों का प्रयोग है। चावल की कितनी किस्में तैयार करते थे यह सूत्रों से ही प्रमाणित है। नैवेद्य केलिए शुद्धोदन, पायस, गुडोदन दध्योदन, गौडिक, चित्रोदन कृसरमाषोदन कणिकोदनानि कमेण निवेदयेत (वै. सूत्र पृ. ६६) गेहूं शायद दक्षिण के किसी प्रान्त में खाने भर के लिए कोई उगाता भी हो पर जौ का तो कोई सन्दर्भ भी प्राप्त नहीं है। कपूर कस्तूरी केसर का उपयोग प्रचुरतया होता है। खनिजों में सुवर्ण रजत ताम्र पित्तल आयस आरकूट लोह त्रपू सीस आदि का ज्ञान था।

यन्त्र पद का प्रयोग रथ के लिए तथा पूजा उपकरणों के लिए जैसे झूला आदि के लिए हुआ है। ज्यौतिष में विशेषतः खगोल शास्त्र के अध्ययन के लिए बनाये गये साधनों का यन्त्र नाम प्रयोग में था। पर ताले के लिए यन्त्र पद का प्रयोग । हाँ पञ्जाबी में आज भी ताले के जन्दा कहते हैं जो यन्त्र का ही विकृत रूप होगा । लक्ष्मी यन्त्र आदि प्रचलित हैं। पशुओं में गाय, बैल घोडा, हाथी, ऊँट का ज्ञान था।

सोना चान्दी अनेक बहुमूल्य रत्नों का ज्ञान। यह ज्ञान स्वर्णकार द्वारा प्राप्त ज्ञान या वृत्ति विद्या द्वारा प्राप्त उपार्जित ज्ञान नहीं बल्कि बार बार मूर्तियों के निर्माण अलंकरण

आदि कामों में प्रयुक्त होने के कारण सहज सम्पर्क से प्राप्त ज्ञान है निश्चय ही जब देश में सुस्थिरता हो तभी देश स्वर्णरजत वज्रमणि माणिक्यों से सम्पन्न हो सकता है। आभरणों में मुख्यतः कर्णाभरण, कण्ठाभरण, वक्षाभरण, स्कन्धाभरण, हस्ताभरण, पादाभरण एवं शिरोभूषण मुख्य हैं।

चोल साम्राज्य दृढ साम्राज्य था। बलिष्ठ भी। सुदीर्घ काल तक सुस्थिर शासन - परिपाल भी किया। चोलवंश के अनेक शिला लेख भी प्राप्त हैं। बडे बडे मन्दिर बनवाये। चढावे में मन्दिरों को बडी जागीरें और जायदाद भी दान में दीं। वैखानसों का अभ्युदय इस युग में हुआ पर किस ओर?

वैखानस विद्वद्वर्ग दर्शन क्षेत्र में खण्डन मण्डन की परिपाटी में नहीं आये। तत्त्व चिन्तन की दिशा उनको अपनी ओर खींच न सकी। अतः विद्या अध्ययन ग्रन्थ निर्माण के क्षेत्र में वैखानसों का योगदान अति स्वल्प ही है। जो छिटपुट लिखा भी गया है। उन ग्रन्थों की संस्कृत भी टकसाली नहीं।* (*देखिए कालण्डका भूमिकामें नोट पृ.१५.) भाषाशैथिल्य सर्वत्र व्याप्त है। तामिल में भी कुछ नहीं के बराबर है। शकुन शास्त्र तथा ज्योतिष का प्रयोग व प्रचार था।

मरीचि ने तृतीय पटल में समाज के १३ वर्गों के लिए ९ प्रकार के वास निर्माण को बताया है। विष्णु पूजा विहीन ग्राम में विप्र को वास नहीं करना चाहिए। वास्तु शास्त्र में विश्वास प्रबल था।

तदर्चकानां तत्पार्श्वे स्थानं, नाभ्यैशान्यां सभास्थानम्, आग्नेय्यां गोष्ठावारम्, नैर्ऋत्यमापणम्, पैशाचबाह्ये प्राच्यां कुलालोर्ध्व-नापिताम्बष्ठानाम्, याम्ये तन्तुवायचक्रिणाम्, वारुणे क्रयविक्रयकारिणां वणिजाम्, सौम्ये द्विजभृत्यानां, वादित्रजीविनां च आग्नेय्यां क्रोशमात्रे तक्षकादीनाम्, नैर्ऋते गव्यूतिमात्रे चण्डालपक्कणम्, वायव्ये मृगव्याधशाकुनिकाऽधोनापितानाम्, पैशाचाद्बाह्यतः प्रकारपरिधे ऐशावारुण्यां तटाकं त्रिदण्डसहस्रम्, अर्धं तदर्धं वा सेतुबन्धं दृढतरमत्युन्नतमनवच्छेद्यं, तत्र निर्झरोपकुल्या महाकल्यादिजलयन्त्राणि च सम्यक् प्रकल्पयेत्। मरीचिविमानार्चनकल्प पृ.१२.

ईशान्यमें नगर सभागार (टाउन हाल), नैर्ऋत्य में बाजार (कामर्शियल काम्प्लेक्स) और वारुणी दिशा (पश्चिम) में तटाक और पानी के फव्वारे होने चाहिए।

सफाई का विशेषध्यान रखा जाता था। वस्त्र चमडें के बने सामान सिल्क शंख सीप गौशृंग से बने सामान कैसे साफ किये जांय इसके उपाय दिये हैं। घर को मार्जन झाडू देकर, साफ करे। पानी से भी धोये। फल मूल सब्जी को पानी से धोये।

व्यक्ति अकेला नहीं है। वह जो कुछ करता है उसका प्रभाव समष्टि पर पडता है। जैसे हाथ के जलने के पर सारा शरीर दुःख भोगता है उसी प्रकार एक व्यक्ति के पाप कर्म करने पर वह व्यक्ति तो उससे प्रभावित होता ही है, वरन् उससे संपृक्त समाज भी उससे प्रभावित होता है। अतः यह आवश्यक है कि समाज की भलाई यदि करनी है तो सब व्यक्तियों की भलाई के लिए सोचना होगा। हिन्दु वर्णाश्रम व्यवस्था एक ऐसी ही व्यवस्था है।* (*एक परिवार या कुल का कोई भी व्यक्ति समाज के सारे व्यक्तियों के समान ही रहेगा। कोई बहुत ऊपर नहीं उठ सकता कोई बहुत नीचे नहीं गिर सकता उच्चगति और नीच गति निश्चित और मर्यादित है। उस सीमा को लांघना कष्ट साध्य है। इसीलिए ज्ञान - विज्ञान में धन - धान्य में भू-पशुधन में और आजकल सरकारी या अन्यत्र नौकरियों में कौन कहां है प्रायः ज्ञानकारी के लिए बताते और पूछते हैं। पाश्चात्य देशों से व्यक्ति की प्रधानता है। व्यक्तिगत प्रयत्नों की प्रधानता है। व्यक्तिगत रूप से ऊपर उठने की प्रधानता है। वही भारत में कुल की प्रधानता है। किस कुल में जन्म है यह पूछते हैं। इससे व्यक्ति के संस्कारों का पता चलता है। शायद आर्थिक स्तर का और सामाजिक प्रतिष्ठा का भी पता चलता था आज नहीं तो कुछ दशाब्द पूर्व तक तो अवश्य ही।)

सत्य धर्म है या एक सामाजिक आवसश्यकता। सब लोग एक ही जैसा आदर्श का पालन करें इसके लिए आवश्यक है, सब एक जैसा ही सोचें। इसके लिए आवश्यक है, सब की शिक्षा-दीक्षा एक प्रकार की हो। सब के संस्कार एक प्रकार के हों। सब की ग्रहण-धारणा-स्मरण तथा समय पर ज्ञान का स्फुरण हो ऐसी प्रत्युत्पन्नमतिता हो। चाणिक्य ने प्रार्थना की -- 'नन्दोन्मूलनदृष्टदिव्य- महिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम।' यह जो बुद्धि है यह जितनी माता - पिता की देन है उतनी ही समाज की। सच-झूठ, दान-चोरी, मार्दव-क्रूरता, अध्ययन-वैदुष्य यह सब कुछ परिवार और समाज के द्वारा प्राप्त होता है। व्यक्तिशः भेद अधिग्रहण की योग्यता की कमी - वेशी पर निर्भर करता है।

सामाजिक मूल्यों से जो लोग प्रसन्न नहीं थे उनका एक दल अवश्य होगा। समाज से बहिष्कार का रास्ता समानान्तर समाज का संगठन है।

समाज में दो गुण प्रमुख है -- विवाह और भोजन। वैखानस दोनों बातों में किसी से नहीं मिलते। विवाह और भोजन अपने ही वर्ग में करते हैं।

मोक्षोपाय भी उनका अपना ही है। अर्चावतार की कल्पना उनकी अपनी है। मन्दिर निर्माण असली अवदान है। मन्दिर निर्माण भी यज्ञ के समान पुण्य कर्म है, अतः मोक्षोपाय है पुण्योत्पादक कर्म है, अतः करणीय है। यह भी वैखानस का अवदान है।

मन्दिर में दर्शन के लिए बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। वेद मन्त्रों के या पूजापद्धति के जानने की आवश्यकता नहीं। किसी वेशभूषा या फटाके की आवश्यकता नहीं। बस श्रद्धा चाहिए। उपवास स्नान आदि भी व्यक्तिगत विकल्प के ऊपर निर्भर है। मनु से वैखानस का मत भेद यज्ञ को महत्त्व को लेकर है । यज्ञ से महापातक भी तुरंत नष्ट हो जाते हैं। मनु ११.२४५. पञ्चपात्र या अर्घ्यपात्र भी आवश्यक सामग्री नहीं। सब बाह्याचार का निराकरण भारतीय समाज को वैखानस सम्प्रदाय की देन है। वैसे मन्त्र स्नान भी ग्रन्थों में पठित है।

आज की वर्तमानावस्था में व्यक्तिगत महत्त्व बढ रहा है समाज का व्यक्ति पर नियन्त्रण क्षीणबल हो रहा है वैखानस व्यक्ति को उच्छृंखल होने से बचाने के लिए, व्यक्ति को अपने स्थान के लिए, समाज में मर्यादा के लिए और ईश्वर के सामने खडे होने के लिए जिम्मेदार मानती है। कर्म सिद्धान्त इस लोक में और परलोक में कार्यकारी है। अगले जन्म के लिए संसार में स्थान के लिए स्वयं उत्तरदायी है। भविष्य और भविष्य सुधार की कल्पना, इस जीवन का उसके लिए उपयोग वैखानस चाहता है।

मोक्ष में सब का अधिकार है। वर्ण किसी प्रकार से मोक्ष मार्ग में बाधक नहीं है। हम सब उसी परम पिता की सन्तान है अतः भाई भाई में क्या जाति भेद? मनु स्त्री शूद्रों को यह अधिकार देने को तैयार नहीं है।

भूख की तरह काम भी एक शरीर धर्म है हेय क्यों है? परिणीता के अतिरिक्त काम - प्रादुर्भाव या बलात् रति, एक डकैती है। वह तो अन्य की है। अदत्ता पर कोई किसी प्रकार की जबरदस्ती करे यह समाज सहन नहीं कर सकता। दण्डनीय है। स्व स्त्री के साथ भी रिरिंसा के क्षणों में ही, वही मदन मदनिका है।

वैखानसों का समाज में आदर था। चोल नृपति राज राज प्रथम के काल में उनको मन्दिरों के निर्माणकार्य में लगाया गया। यह शिलालेखों से पुष्ट है। बडे बडे राजाओं की राजधानियों में मन्दिर बनवाने के काम में लगे रहेने के कारण वे वानप्रस्थ न होकर नगरस्थ हो गये थे। इसका विशेष कारण था उनका वास्तुपरक ज्ञान। मन्दिरों

के रख-रखाव, मरम्मत आदि का काम वे ही कर सकते थे। मरम्मत हो और देखभाल के लिए धन की आवश्यकता होती थी अतः राजाओं ने यथाकाल मरम्मत के लिए जायदादें भी दीं। और क्रमशः उन जायदादों का प्रबन्ध भी वैखानसों के हाथ में आगया। जमीन और जायदाद की देखभाल के सन्दर्भ में राजा और राज पुरुषों से सम्पर्क घनिष्ठ होता गया और दरबारों में आना जाना लगा रहा। लगान माफ कराना, सरकारी जमीन किसी बहाने हथियाना, उसके लिए काम में लाये जानेवाले हथकण्डे सब काम में लाये जाते रहे। और सबसे महत्त्वपूर्ण उन्हीं का (वैखानसों का) पूजा करने का एकाधिकार।

होयसाल और विजयनगर सम्राटों को रामानुजाचार्य ने अपना चेला बना लिया उसके बावजूद वैखानसों को पूजा हक और अधिकार से न हटा सके।

चिदम्बर शिलालेख १५३९ ई. का विजयनगर सम्राट अच्युतराय का हैं जिस में गोविन्दराज स्वामी के मन्दिर के लिये दान देने का समाचार है। तथा च वैखानसों द्वारा ही मन्दिर की प्रतिष्ठा का भी सन्दर्भ है। पर आज गोविन्दराज स्वामी के मन्दिर में पाञ्चरात्र विधान से पूजा होती है। इतना ही नहीं गोविन्दराज स्वामी के मन्दिर के सन्निधि वीथी उत्तरमाडा और दक्षिणमाडा वीथियों में भी केवल पाञ्चरात्री समुदाय के लोग ही रहते हैं।

रंगराज, गोविन्दराज, वरदराज आदि राजपदान्तों से यह अनुमान करने का साहस किया जा सकता है ये ब्राह्मण मन्दिर न होंगे ये क्षत्रिय या ब्राह्मणेतर राजाओं के मन्दिर होंगे जिनको अन्य मन्दिर स्थित देवों की तुलना में राज शब्द लगाना पडा जिससे अन्य मन्दिरों से पार्थक्य प्रकट हो सके। इन मन्दिरों की पूजा व्यवस्था पाञ्चरात्रों के हाथों में है।

आज के पाश्चात्य एवं पश्चिम पद्धति से शिक्षित विद्वानों का मत है कि शिल्प शास्त्र के ग्रन्थ ब्राह्मणों द्वारा लिखित हैं जिनका निर्माण कार्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। जब शिल्प शास्त्र के ग्रन्थों का ही कोई सम्बन्ध नहीं है; तब धार्मिक ग्रन्थों का शिल्प सम्बन्धी वाङ्मय क्या अर्थ रखता है?

सम्प्रदाय गत रूप से आगत या वंश परम्परा में शिक्षित ज्ञान ही व्यावहारिक ज्ञान है पुस्तकों में लिखा ज्ञान तो सम्भावना मात्र है। उस ज्ञान को कभी कार्य रूप में उतारा नहीं गया।

स्थपति आज भी पुरानी पुस्तकों को लिए रहते हैं। मानसार के सम्पादक पी.के.आचार्य ने अपना घर इलाहाबाद में मानसार में प्रवर्तित सिद्धान्तों के अनुसार बनाया है और आज भी है।

लन्दन स्थित स्वामी नारायण मन्दिर १९९५ में बना है एवं भारतीय स्थापत्य के सिद्धान्तों के अनुसार। इसके निर्माण में लोहा या सीमेन्ट का प्रयोग नहीं हुआ है।

इस प्रकार के दोनों प्रवाद तो विद्वद्वर्ग में प्रचलित हैं। आचारी - विचारी ऐसे पद भाषा में प्रचलित हैं। जो आचार में विश्वास करते हैं जैसे वैखानस वे आचारी हैं जो विद्वत्ता या तर्क से ज्ञान की प्रामाणिकता मानते हैं वे विचारी हैं।

धार्मिक शिल्प की अपनी ही कोटि है। पाञ्चरात्र और वैखानस दोनों मन्दिर का निर्माण, मरम्मत, विस्तार तथा मूर्ति का निर्माण ध्यान के अनुसार दिव्याभूषण आयुधों के साथ एकल या युग्म रूप से अनेक मुद्राओं में करते हैं। भग्न होने पर मूर्ति धार्मिक कार्य में प्रयुक्त नहीं की जाती है। हाँ फिर भी भग्न मूर्ति की मरम्मत की व्यवस्था है। तब तक्षण कला का प्राशस्त्य एवं धार्मिक कृत्यों का समवेत ज्ञान ब्राह्मण पुजारी और ब्राह्मणेतर शिल्पी को होना ही चाहिए।

पाञ्चरात्र एवं वैखानस आगम दोनों में मन्दिर और मूर्ति निर्माण विषयक सामग्री का समावेश है।

वास्तु एक और शास्त्र है। शास्त्र किसको कहते हैं इस पर कालक्रमेण विद्वानों में मतभेद है। शास्त्र मोक्षोपयोगी ही हो सकता है सांसारिक ज्ञान शास्त्र नहीं। कुल्लूक भट्ट ने मनु १.५८ पर टीका में – अत्र मेधातिथिः - 'शास्त्रशब्देन शास्त्रार्थो विधि निषेध समूह उच्यते' कहा है। बौद्ध धर्म ने तो शिल्प को विद्यास्थान मान लिया था पर हिन्दू संस्कृति में राजशेखर के आने तक शिल्प का शास्त्र के रूप में या विद्यास्थान के रूप में कहीं भी पाठ नहीं है।* (*काव्यमीमांसा- वार्ताकामसूत्रं शिल्पशास्त्रं दण्डनीतिरिति पृ.४ द्वितीय अध्याय) अतः मूर्ति पूजा या मन्दिर निर्माण मोक्षोपयोगी धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में मान्यता बहुत बाद में मिली होगी। वैसे वैदिक, अवैदिक इस प्रसंग में कोई अर्थ नहीं रखता क्यों कि वैखानस पद वेद से लगाकर परवर्ती साहित्य, शिलालेखों में प्राप्त है। हां आज भी मूर्ति पूजा के क्षेत्र में वैखानसों की तुलना में पाञ्चरात्रों का लोकादर तथा लोक में प्रयोग वैशाल्य अधिक है।

वैखानसों का समाज में स्थान इसीसे जाना जा सकता है कि शिल्प- मन्दिर और मूर्ति निर्माण शास्त्र (कला) मोक्षोपाय के रूप में भारत में बहुत बाद में आदर का पात्र बना।

राजा के लिए मंदिर बनवाना आवश्यक है। बढई, लौहार, राजमिस्त्री और आत्मोपजीवी शूद्र से काम करवा कर उसे जीने का सहारा देना राजा का कर्त्तव्य है। मास में एक बार काम मिलना चाहिए। कारीगर के हाथ शुभ होते है ऐसा सूत्रों में पठित है। कारुहस्तः प्रसारितपण्यञ्च सर्वदा शुद्धम्।

कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः॥ मनु. ७.१३८.

वैखानस सम्प्रदाय एक छोटा सा सम्प्रदाय है, जो आपस में ही विवाहादि करते हैं।

ब्रह्मवैवर्त — कलिवर्ज्यधर्मान् प्रकृत्य
अपत्यार्थं विवाहश्च यागार्थं धनसंग्रंहः
ब्राह्मण्यं परलोकार्थं ब्रह्मचर्यं तु मुक्तये
पातिव्रत्यं कुलार्थं तु जपः पापप्रणाशने
सत्यं धर्मप्रतिष्ठार्थं आचारः कुलवृद्धये
तस्मात्कन्या परित्याज्या विप्रेणान्यकुलोद्भवा॥ हेमाद्रि प्रायश्चित पृ.६८७.

मुख्यतया इनकी वृत्ति देवालयों में पुजारीगिरि है। ये पुजारी होने के लिए स्वयं - शिक्षित हैं। इन्हें किसी स्कूल से डिप्लोमा या प्रमाण पत्र पुजारीगिरि के लिए लेने की आवश्यकता नही हैं। तब इतने मन्दिरों की संख्या होगी कि वैखानस कुलमें पैदा होने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए मन्दिर में भगवान की सेवा करने का स्थान अनायास प्राप्त होता होगा। अक्लेशेन यथा जीवेदर्चकः सुसामाहितः प्रकीर्णाधिकार १२.११८ अर्चकास्यार्चनार्थं च कुटुम्बार्थं च यत्नतः। अत्यन्त पुष्कलां भूमिं बहु सस्योचितां तथा। प्रकीर्ण १२.११२ अर्थात् भगवान के पूजा - प्रसाद का जितना ध्यान रखा जाता है उतना ही ध्यान पुजारी या अर्चक का भी समाज को रखना चाहिए।

वैखानस सम्प्रदाय के स्थिर होते होते जन्म से जाति का सिद्धान्त स्थिर हो गया था। 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते' बात पुरानी पड गयी थी। जननाशौच मरणाशौच तथा अपर कर्म कैसे करे यह विपुलतया लोक व्यवहार में था।

इतना ही नहीं जतियों उपजातियों के काम - अनुलोम - प्रतिलोम से जो नई जातियां बनतीं हैं उनके लिए काम (जन्मना) भी निर्धारित किये गये।

भारत में जाति का आधार धन या राजाश्रय नहीं हैं। नैतिक आचरण की श्रेष्ठता है। नैतिक आचरण का आधार व्यक्तिगत लोभ या काम नहीं वरन् सर्वजन हित है। आज भी ब्राह्मण गरीब है पर आचरण की शुद्धता में समाज के अन्य सभी वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। विष्णु पुराण १.१५.८५ में तप कों ही कानिष्ठ्य ज्यैष्ठ्य का कारण माना है।

आज दलितों पर अत्याचार की बात करते हैं। पर अत्याचार क्या है? क्या इसका स्वरूप धार्मिक है? सामाजिक है? राजनीतिक है? या लोभ जन्य धनमूलक है? लोभ-लोभ है चाहे धनिक का हो या गरीब का दलित का हो या उच्चवर्ण का। इस भेद को भुला कर दलित कह कर सामाजिक भेद को ही बार बार उभारना समाज के एक वर्ग के दूसरे वर्ग से वैर द्वेष घृणा पैदा करना है।

बहुत से वर्ज्य कालक्रमेण स्वतः हट गये हैं। आज सब लोग विदेशों में जाते हैं उनको जात से निकालने के प्रश्न समाज के सामने नहीं आते। यही १५०- २०० साल पहिले ब्राह्म समाज के उत्पत्ति का प्रमुख कारण बना। सकेशी विधवा, कुरता और पगडी धारण किए सन्यासी सर्वत्र देखने को मिलेंगे पर 'सचैलं स्नानमाचरेत्' अब स्मृति वचन विलुप्त हो गया है।

मनुस्मृति एवं वैखानस का सम्बन्ध दृढ है। मनुस्मृति वैखानस कें परम आचार्य भृगु प्रोक्त है ऐसा पुष्पिका में तथा कई अध्यायों के अन्त में प्राप्त है। अतः मनुस्मृति में वर्णित समाज का चित्रण वैखानस सम्मत होगा ऐसा मानना अनुपयुक्त न होगा।

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयांमास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् मनु.१.५८.

ब्रह्मा ने इस शास्त्र को बना कर सबसे पहिले मुझ को अर्थात् मनु को उपदिष्ट किया और मैने मरीचि को—

मेधातिथि ने - इह शास्त्र शब्देन विधिप्रतिषेधसमूह उच्यते न तु ग्रन्थः।

पुनः अगले श्लोक में—

एतद्वोयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।

एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ मनु.१.५९.

क्यों कि भृगु ने इस समस्त शास्त्र को मुझ से ही सीखा है अतः आप लोगों को सम्पूर्णतया बतायेगा। इसका सीधा प्रमाण मनुस्मृति के कई अध्यायों के अन्त में भृगु प्रणीत ऐसा कहा गया है एवं अन्तिम अध्याय की पुष्पिका में तो इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगु प्रोक्तं पठन् द्विजः मनु.१२.१२६. स्पष्ट ही कहा है?

नारद ने शतसाहस्त्रोयं ग्रन्थः कहा है यह ग्रन्थ ब्रह्मा द्वारा कथित एक लाख श्लोकों वाला था। मनु ने सम्पूर्ण अर्थात् गृह्य एवं श्रौत विधि निषेध समग्र रूप से बताया जिसको भृगु ने मनुस्मृति के रूप से तथा मरीचि ने आनन्द संहिता एवं विमानार्चनकल्प के रूप से प्रसिद्ध किया। ब्रह्मा ही वैखानस शास्त्र के कर्ता है तथा मानव शास्त्र के यह उभयत्र प्रकाशित है।

मनु ने वर्णसंकर के लिए तीन कारण माने हैं। १.व्यभिचार २.सगोत्रादि विवाह और ३. स्वकर्मपरित्याग उपनयन रूप। वैखानस धर्म सूत्र १०.११ में मूल केवल चातुर्वण्य संकर कहा है। इस चातुर्वण्य संकर को व्यभिचार नहीं कहा है जैसा कि मनु ने कहा है। वैखानस धर्म सूत्र में चार उपभेद है जब कि मनु में तीन।

अनुलोम, प्रतिलोम अन्तराल और व्रात्य। मनु में व्रात्य नहीं है।* (*मनु १०.२५)(*व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः मनु१०.२४) अनुलोम, नीच वंश के पुरुष से उच्च वर्ण की स्त्री की सन्तान प्रतिलोम, अनुलोम से अनुलोम सन्तति को अन्तराल तथा प्रतिलोम से प्रतिलोम को व्रात्य कहते है। मनु ने अनुलोम से अनुलोम तथा प्रतिलोम से प्रतिलोम दोनों को एक ही वर्ग में रखा है। वर्ण संकर जातियों का पुनः आपस में विवाहादि।

ब्राह्मण की ब्राह्मणी से समन्त्रक असगोत्र विवाह होने पर ही विवाह है अन्यथा वह व्यभिचार। उसमें भी विधि हीन, अन्यपूर्वा (विधवा विवाह या क्षत योनि विवाह) गोलक भर्ता की मृत्यु के पश्चात् पैदा पुत्र और भर्ता के जीवित अवस्था में अन्य पुरुष से उत्पन्न पुत्र को कुण्ड कहते हैं। ये सब मनु में नहीं है। संकर जातियों के ३५ नाम गिनाये है। शायद भेद और भी हों क्यों कि व्रात्य या। पतित चार वर्णों के ही है इन संकर जातियों में पुनः अनियमिततायें हो सकती हैं और उनका पतन? प्रायो नाम तपः प्रोक्तं

चित्तं निश्चय उच्यते – तपो निश्चय संयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् मनु. १०. ४७(५).

शायद पतन के बाद पतन नहीं हैं। प्रायश्चित्त का अवकाश कहां है? संस्कार लोप होने पर पतित होना नियमतः है।

वैखानस धर्म सूत्र में ये संकर जातियां दी हैं। १. अधोनापित २. अभिषिक्त ३. अम्बष्ठ ४. आयोगव ५. उग्र ६. उद्बन्धक ७. कर्मकार ८. कुम्भकार ९. खनक १०. तक्षक ११. चक्रिक् १२. चक्रिन् १३. चण्डाल १४. चर्मकार १५.चूचुक १६. ताम्र १७. नाविक १८. पुलिन्द १९. पुल्कस २०. पारशव २१. भोज २२. मणिकार २३. मद्गु २४. मत्स्यबन्धु २५. मागध २६. मालवक २७. रजक २८. रथकार २९. वेणुक ३०. वेल्व ३१. वैदेहक ३२.शूलिक ३३. श्वपच ३४. सवर्ण ३५. सूचिक ३६. सूत ३६ जातियां । इसमें स्थपति नहीं है। शूद्रों में भी शुद्ध शूद्र और निन्दित शूद्र ऐसे भेद हैं। वै. सू. १०.१२ १०.१० में मनु अपसर एक जाति दी है।

१. अधोनापित (अम्बष्ठात्) क्षत्रियायामधोनापितो नाभेरधो रोमवप्ता १०.१५ ब्राह्मण का वैश्य कन्या में उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ कहाता है। यह मनु में उपलब्ध नहीं है। अम्बष्ठ से क्षत्रिय कन्या में जात पुत्र अधोनापित होता है।

निश्चय ही जब अधोनापित एक जाति है तो ऊर्ध्व नापित भी एक जाति है। शायद दोनों जातियों में विवाह सम्बन्ध नहीं होता था। ऊर्ध्वनापित अम्बष्ठ ही है पर जार पुत्र।

२. अभिषिक्त ब्राह्मण से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न को सवर्ण कहते हैं। यह अनुलोमो में मुख्य है। इसका काम (वृत्ति) आथर्वण वेद में लिखे मारण आदि कर्मों को करना है। इसका काम हाथी घोडा रथ संवाहन आरोहण राजा की सेना में नौकरी और आयुर्वेद का अध्ययन है।

पर यदि क्षत्रिय कन्या से ब्राह्मण द्वारा गूढोत्पन्न हो तो उसे अभिषिक्त कहते हैं। शायद यह राजा बन सकता था। गूढोत्पन्न हो तो उसे अभिषिक्त कहते हैं। गूढोत्पन्नो अभिषिक्ताख्यो अभिषिक्तश्चेत् नृपो भूयात् अष्टांग * (*आयुर्वेद के आठ विभाग १. शल्य, २. शालाक्य, ३. कायचिकित्सा, ४. भूतविद्या, ५. कौमारभृत्य, ६. अगदतन्त्र, ७. रसायनतन्त्र, ८. वाजीकरण) आयुर्वेद भूत तन्त्र का अध्ययन करे। और अधिक वृत्ति करनी होतो ज्योतिर्गण-नाधिकाधिकवृत्तिर्वा वै.सू.१०.१२.

तब ज्यौतिष और अयुर्वेद दोनों ही अच्छे ब्राह्मणों की वृत्तियां नहीं हैं। प्रतिष्ठित कुलों में आज भी ये वृत्तियां हेय समझी जाती हैं। शायद आयुर्वेद से आधिक ज्योतिष क्यों कि अधिकवृत्तिर्वा ऐसा लिखा है।

मनु ने—

असत्प्रतिगृहीतारस्तथैवायाज्ययाजकाः।
नक्षत्रैर्जीवितैर्यश्च सोन्धकारं प्रपद्यते ॥ २३५॥ प्रायश्चित्तमयूख में उद्धृत.

३. अम्बष्ठ विप्राद्वैश्यायामम्बष्ठः १०.१२ वै.सू. मनु. १०.१३ एकान्तरे तु अनुलोम्याद अम्बष्ठः। बीच में खाली एक वर्ण अर्थात् क्षत्रिय वर्ण रह गया है। अन्यथा ब्राह्मण के बाद वैश्य ही आता है। इस प्रकार एक के अन्तर होने पर भी विप्र पुरुष से यदि वैश्य कन्या में पुत्र उत्पन्न हो तो उसे अम्बष्ठ कहते है। अनुलोम से पैदा होने के कारण अस्पृश्य नहीं है।

उसकी वृत्ति कक्ष्या से जीवन निर्वाह है। अग्नि पर नाच कर, राजा का झण्डा लेकर चलता है। शल्य चिकित्सा। यह तो रही शादी शुदा की बात। यदि पतिके अतिरिक्त जार से किसी अन्य से - विप्र पुरुष और वैश्य कन्या को पुत्र हो तो कुम्भकार, कुलालवृत्ति और नाभि से ऊपर हजामत करनेवाला होता है।

४. आयोगव १०.१४ वैश्यान्नृपायामायोगवः वैश्य से क्षत्रियकन्या में यदि पुत्र हो तो उसको आयोगव कहते है। मनुने -१०.१६ में —

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालाधमो नृणाम्। यह जुलाहा है। बर्तन और कपडे बेचकर जीवन चलाता है। और यदि जार (वैश्य) से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न हो तो वह पुलिन्द होता है। उसकी वृत्ति जंगल में रहना हिरन तथा अन्य जानवरों का शिकार है।

५. उग्र १०.१३ राजन्यतः शूद्रयामुग्रः क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र उग्र होगा। वह राजा का दण्डधर तथा राजा की आज्ञा से दण्ड्यों को दण्ड देने वाला होगा।

६. उद्‌बन्धक १०.१५ खनकान्नृपायामुद्‌बन्धकः। खनक द्वारा ब्राह्मण कन्या में यदि पुत्र हो तो वह उद्‌बन्धक होता है। यह शूद्र से भी अस्पृश्य है। यह रंगरेज (धोबी) होता है। वैखानस सूत्र १०.१५ में वस्त्रनिर्णेजक तथा रजक को अलग अलग पढा है।

७. कर्मकार १०.१५ 'क्षत्रियायां कर्मकरः कर्मकारी' कर्मकर अर्थात् प्रतिदिन की भृति पर काम करनेवाला। यदि मद्गु से क्षत्रिय कन्या में कोई पुत्र हो तो उसे कर्मकारी कहते हैं।

८. कुम्भकारः १०.१२ जारात् कुंम्भकार : (विप्रात् वैश्यायाम्) अर्थात् ब्राह्मण से वैश्य कन्या में जार द्वारा उत्पन्न कुम्भकार होता है। यह कुम्हार होता है उसकी वृत्ति नाभि से ऊपर भाग का वपन कर्ता होता है। (देखिये अम्बष्ठ)

९. खनक १०.१५ नृपायां खनकः आयोगव से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न पुत्र खनक होगा। उसका काम मट्टी खोदना है।

१०. चक्रिक १०.१४ शूद्र द्वारा वैश्य कन्या में जारतः उत्पन्न चक्रिक होता है। वह तेल नमक और खली बेचकर जीवन यापन करता है।

११. चक्रिन् १०.१३ वैश्य पिता से ब्राह्मण कन्या में जारज पुत्र चक्रिन् होता है तेल और नमक बेचना इसकी वृत्ति है।

१२. चण्डाल १०.१४ शूद्रात् ब्राह्मण्यां चण्डालः शूद्र से ब्राह्मण कन्यामें जो संतति होती है उसको चण्डाल कहते हैं। सीसा और लोहे के आभरण पहनता है गले के चारों ओर चमडें की पट्टी और कमर में क्षुद्र घण्टिकायें बांधकर इधर उधर घूमता रहता है। सारे (धार्मिक) कार्यों से बहिष्कृत। पूर्वाह्न में ग्राम नगर आदि के मल को हटाकर (ग्राम) के बाहर फेंकता है गांव के बाहर अपनी जातिवालों के साथ रहता है।

आयोगवश्च क्षत्ता च चाण्डलश्चाधमो नृणाम्।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ मनु १०.१६.

१३. चर्मकार १०.१५ वैदेहकाद्विप्रायां चर्मकारः वैदेहक द्वारा ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न पुत्र चर्मकार कहाता है। चमडें के काम करके जीता है।

१४. चूचुकः १०.१३ वैश्यतः शूद्रायां चूचुकः। वैश्य से शूद्रा स्त्री में जो पैदा हो वह चूचुक कहलाता है। वृत्ति पान सुपारी शर्करा का क्रय विक्रय है। पान सुपारी के साथ चीनी या शक्कर की विक्री या व्यापार कुछ संगति नहीं बैठती। जब तक कोई अन्य अर्थ संगति के अनुकूल न जाना जाय तब तक शक्कर अर्थ ही लेना पडेगा।

हां महाराष्ट्र में नमक को शक्कर कहते हैं। नमक डालकर बनाया गया मैदे का एक खाद्य विशेष सकरपारा नाम से भारत भर में ख्यात है। क्योंकि पान सुपारी दोनों

समुद्र तीर में पैदा होनेवाले पदार्थ हैं, अतः समुद्र से निकलने वाला नमक का शर्करा अर्थ हो सकता है। शर्करा का अर्थ पत्थर की गिट्टी भी है। क्यों कि पत्थर भी गिट्टी के रूप में नमक भी गिट्टी के आकार की वैसी नमक आकार साम्य और समुद्र में या समुद्र तीर में पैदा होनेवाली तीनों वस्तुओं का क्रय विक्रय होगा। हां कोंकण आदि समुद्र तीर पर शूद्रों द्वारा नमक विशेषतः इमली के साथ मिला नमक सवर्णों को स्वीकार्य नहीं है।

१५. तक्षकः १०.१४ चूचुकाद्विप्रायां चूचुकः चूचुक द्वारा ब्राह्मण स्त्री में यदि पुत्र हो तो वह तक्षक होता है जो चारों वर्णों द्वारा अस्पृश्य है। वह बढई सुनार कसेरा लोहार हो एकता है।

१६. ताम्र १०.१५ आयोगवाद्विप्रायां ताम्रः आयोगव से ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न पुत्र ताम्र कहाता है। उसकी वृत्ति ताम्बे के काम करना है।

आज कल शायद ऐसी कोई जाति नहीं है जो केवल ताम्बे पर काम करे। तक्षक के कामों में बढई सुनार लोहार कसेरा कहा है लकडी के साथ धातु का काम। ये दोनों अलग प्रकार के काम है।

१७. नाविक १०.१५ अम्बष्ठाद्विप्रायां नाविकः अम्बष्ठ से विप्रकन्या में पुत्र हो तो वह नाविक होता है। वह समुद्री व्यापार मत्स्यजीवी मछली पकड कर जीनेवाला और समुद्र में नाव चलाता है।

१८. जारोत्पन्न निषाद १०.१३.

१९. पारशव १०.१३ ब्राह्मण पुरुष से शूद्रा स्त्री में पैदा हो तो उसे पारशव कहते हैं। विप्रात् शूद्रायां पारशवः इसका काम भद्रकाली पूजन चित्रकर्म अंग -विद्या से जीवन चलाना, तूरी बजाना तेल मालिश करना है।

२०. पुलिन्द १०.१४ वैश्यान्नृपायामायोगवः गूढाचारात्पुलिन्दः वैश्य द्वारा क्षत्रिय कन्या में पुत्र हो और जारज हो तो उसे पुलिन्द कहते हैं। यह जंगल में रहता है। जंगली जानवर मारकर या हिरन मार कर जीता है।

२१. पुल्कस १०.१४ शूद्रात् क्षत्रियायां पुल्कसः शूद्र से क्षत्रिय कन्या में सन्तति हो तो उसे पुल्कस कहते हैं। उसका काम नकली शराब या पेड से खींचकर भभका में पकाकर बेचना हैं।

२२. भोज १०.११ क्षत्रियात् क्षत्रियायां गूढोत्पन्नः क्षत्रिय से क्षत्रिय कन्या में गूढोत्पन्न को भोज कहते है।

२३. मद्गु १०.१२ क्षत्रियाद्वैश्यायां मद्गुः क्षत्रिय से वैश्यकन्या में उत्पन्न को मद्गु कहते है। यह यदि श्रेष्ठित्व को प्राप्त हो तो महानर्माख्य वैश्यवृत्ति करता है। क्षत्रिय वृत्ति नहीं करता। और गूढोत्पन्न होनेपर अश्व का व्यापार करता है। अस्तबल का मालिक भी हो सकता है। गूढोत्पन्न की अलग जात नहीं दी है। मद्गु का नाम पुनः १०.१५ में पढा गया है जहां वेणु वीणावादन उसका काम बताया है।

२४. मागध १०.१३ वैश्यात् ब्राह्मण्यां मागधः वैश्य से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र मागधी शूद्र भी उसका भोजन नहीं कर सकते अस्पृश्य है सब को बन्दना करने वाला परपुरुषों की प्रशंसा कीर्तन गायन और प्रेषण समाचार लेजाने वाला या ऐसे कामों का ठेकेदार भी हो सकता है।

२५. मणिकार १०.११ वैश्याद् वैश्यायां विधिवर्जं मणिकारः वैश्य से वैश्य स्त्री में विधिविहीन पैदा हो तो उसे मणिकार कहते हैं। यह शुद्ध नहीं है। मणिमुक्तादिकों का वेध करके जीता है या शंख की चूडियां बनाता है।

२६. मत्स्यबन्धु १०.१४ चूचुकात् क्षत्रियायां मत्स्यबन्धुः चूचुक से क्षत्रिय स्त्री में पैदा हो तो उसे मत्स्यबन्धु कहते है। उसका काम मछली पकडना है।

२७. मालवक १०.१२ शूद्र से शूद्र में जारतः उत्पन्न को मालवक कहते हैं। उसका काम घोडे को घास देना और घोडों की देखरेख करना है।

२८. रजक १०.१५ पुल्कसाद्विप्रायां रजकः पुल्कस से विप्रा में पैदा पुत्र रजक होता है। उसका काम कपडा धोना है।

२९. रथकार १०.१३ क्षत्रियात् विप्रकन्यायां जारेण रथकारः। द्विजत्व विहीनः शूद्रवृत्यः अश्वानां पोषणदमनादिपरिचर्याजीवी क्षत्रिय से विप्रकन्या में उत्पन्न जारजपुत्र रथकार होता है। वह संस्कार योग्य नहीं शूद्रों का काम करता है घोडों को शिक्षण देना पालना आदि काम करता है। सेवा से जीता है।

३०. वेणुक १०.१५ मद्गौ विंप्रायां वेणुकः। वेणुवीणानादी मद्गु से विप्रकन्या में उत्पन्न को वेणुक कहते है। वेणु वीणा बजाता हैं। देखिये १०.१२ भी क्रम २३ पर.

३१. वेलव १०.१४ शूद्र से क्षत्रियकन्या में उत्पन्न जारज सन्तान को बेलव कहते हैं रंजन, गायन, नर्तन उसका काम है। शूद्रात् क्षत्रियायां चौत्ताद्वैलवो। जन्मन नर्तनगानकृत्यः।

३२. वैदेहक १०.१४ शूद्रात् वैश्यायां वैदेहकः वन्य वृत्तिः अजमहिषगो पालः तद्रसान् विक्रयी। शूद्रास्पृश्यस्तैरप्यभोज्यान्नो। शूद्र से वैश्य कन्या में उत्पन्न को वैदेहक कहते हैं। यह शूद्रों के लिए भी अस्पृश्य है ऐसा भोजन करता है जो शूद्र भी न खा सकें। जंगली वृत्ति है।

३३. शूलिक १०.१३ राजान्यतः शूद्रायां जाराच्छूलिकः शूलारोहण आदि यातना कृत्यों को करने वाला।

३४. श्वपच १०.१५ चाण्डालाद्विप्रायां श्वपचः चाण्डाल से विप्रा में उत्पन्न श्वपच होता है। चाण्डाल चिह्नधारी होता है। नित्यनिन्द्य होता है सब कार्यों में बहिष्कृत होता है अर्थात् किसी भी कार्य में सहयोग नहीं कर सकता। नगरों से मल का निकालनेवाला होता है श्मशान में बसता हैं। लावारिश मृत शरीरों को ठिकाने लगाता है (मनु १०.५५) वध्यको मारकर उसके वस्त्रादि को ग्रहण करता है। टूटे बर्तनो में खाता है। कुत्ते का मांस खाता है। पराधीन आहार है। चमडें का वाद्य बनाता है।

३५. सवर्ण १०.१२ ब्राह्मणात् क्षत्रियकन्यायां जातः सवर्णः अनुलोमों में मुख्य है। आथर्वण उस का काम है। अश्वहस्ति रथ संवाहन आरोहण राजा का सेनापति आयुर्वेदादि का प्रयोग प्रचार।

३६. सूचिक १०.१५ वैदेहक से क्षत्रियकन्या में उत्पन्न सूचिक कहाता है। यह दर्जी का काम करता है। सूची वेधनकृत्यवान् ।

३७. सूत १०.१३ क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां मन्त्रवज्जातः सूतः प्रतिलोमेषु मुख्ययं मन्त्र हीनोपनीतो द्विजधर्महीनः अस्य वृत्ति धर्मानुबोधनं राज्ञोऽन्नसंस्कारश्च क्षत्रियपुरुष से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र पर सविधि विवाह के पश्चात्। मन्त्रहीन उपनयन होता है। या मन्त्रहीन विवाह एवं अनुपनीत होता हैं। द्विजधर्म से हीन उसका काम क्षत्रियों को धर्म बोधन है। तथा राजा के अन्नका संस्कार करना अर्थात् पकाना है। समाज में जीने के लिए वृत्ति चाहिये अन्यथा समाज में अराजकता व्याप्त हो जायेगी। उसी के लिए वृत्ति का आरक्षण जाति के साथ कर दिया गया है।

कुछ परिवारों में गूढोत्पन्न की जातही नहीं दी हैं अर्थात् जात देनेके लायक भी नहीं हैं। जाता ही अर्थ है बृत्तिहीन। वैखानस सम्प्रदाय में नृत्य गीत का समावेश धार्मिक कृत्यों में किया जाता है। *(*मनुस्मृति २.१७८. में नृत्य गीत का निषेध है।) यह आचार (अवैदिक या वैदिक) पुरातन काल से धार्मिक क्षेत्र में व्यवहार में है। नृत्य वाद्य करना चाहिए यह पद्म, ब्रह्म लिंग तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराणों में लिखा है। यह वैखानस सूत्रों में नहीं है। आजीवकों के सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हुए भगवतीसूत्र के टीकाकार अभयदेव ने नृत्य और संगीत के दो सम्प्रदायों का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है – तथा मार्गौ गीतमार्गनृत्यमार्गलक्षणौ सम्भाव्यते – भगवती सूत्र पृ. ४५९. आजीवक सम्प्रदाय के लोग धर्माचरण में नृत्य गीत का उपयोग करते थे। यह आचार सूत्र में नहीं है। वैखानस सम्प्रदाय की तितिक्षा वृत्ति के भी विपरीत है। (क्रमसंख्या ३१ पर वेलव देखिये) पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के समान पूजा प्रणाली को अपनाने के कारण यह प्रणाली वैखानस सम्प्रदाय में आयी होगी। पाञ्चरात्र में भी अवैदिक मक्कलि गोसाल के सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त होने के कारण यह प्रथा चल पडी होगी।

वृत्तियों को देख उस समय के समाज में स्थित वृत्तियों का विश्लेषण नहीं दिया गया हैं। मज्झिम निकाय के महा सच्चक सुत्त में भिक्षा के प्रकारों का वर्णन है। बुद्ध ने निगण्ठ सच्चक अग्निवेश से पूछा— आजीवक अपना निर्वाह कैसे करते हैं? उसने प्रत्युत्तर दिया— अचेलक नन्द वत्स, किस संकिच्च और मक्कलि गोसाल की आदतें ठीक (अच्छी) नहीं है भोजन के पश्चात् अपना हाथ चाटते हैं। यह आचार (बुद्धघोष की प्रपञ्चसूदनी टीका में आजीवक पृ.११८) आज भी दक्षिण में पाया जाता है। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि धार्मिक उत्पीडन के कारण आजीवकों ने उत्तर भारत और मगध से भाग कर प्राण रक्षा के लिए दक्षिण भारत में आकर शरण ली थी। उत्तर और उत्तर पश्चिम के भारत के भाग विदेशी आक्रमणों के और बाद में उनके राज्य स्थापित होने पर विजेता जाति के लोगों के वहां बस जाने से भारतीय सामाजिक प्रथा पर इसका काफी प्रभाव पडा विशेषतः स्त्रियों की दशा पर अधिक प्रभाव पडा। परदा प्रथा उसी का परिणाम है। स्त्रियों को क्रमशः घर के अन्दर ही रखने का रिवाज पाठशालाओं एवं अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों से उनकी निवृत्ति और विशेष कर विवाह एवं स्वच्छन्द प्रेम का निन्दनीय स्थान भारत में पुराणों में तभी उल्लखित हुआ होगा। प्रतिलोम के प्रति भारतीय समाज का दृष्टिकोण स्त्रियों को विशेष रूप से नियन्त्रण में रखने के लिए किया

गया होगा। गर्भ वैष्णव भी एक ऐसी प्रक्रिया है। विदेशियों के आचार विचार से प्रभावित न हों इसके लिए समाज और धर्म का संयुक्त - प्रयत्न। शायद भारत में जन संख्या की दृष्टि से स्त्रियां अधिक हों? और पुरुष समाज के लिए नाना विध नियम आवश्यक हो गया हो ताकि विदेशी प्रभाव से बचा जा सके।

मानव को मानव धर्म से न गिराया जाय यह समाज का काम है। वह अंश जो उसको अन्य संसार की वस्तुओं प्राणियों से पृथक् करता है वह गुण। इसीलिए भारतीय स्मृतिग्रन्थ मानव धर्म कहाते हैं। मनुस्मृति का नाम ही मानव धर्म सूत्र है। यद्यपि ग्रन्थ सूत्र रूप में न होकर श्लोक रूप में है।

संस्कार मानव का विशेष गुण है। पशुओं में वृक्षलताओं में जीवनी शक्ति है। कदाचित् पशु आहार निद्रा भय मैथुन में मानवों से समान होने पर भी कुक्कुर अश्वादि कुछ विषयों में मानवों से अच्छा व्यवहार कर सकते हैं जैसे कुक्कुर का घ्राण ग्रहण सामर्थ्य मानव से अधिक विकसित है।

यदि कुक्कुर का ध्राणग्रहण सामर्थ्य नष्ट कर देतो भी कुक्कुरत्व नष्ट नहीं होता। कुक्कुरत्व क्या है उसका जातिगत रूप। वह सामर्थ्य जिससे उसके कुक्कुर ही पैदा होंगे। तब जाति का अर्थ वह रूप जो समष्टिगत है। सब व्यक्तियों में समाहित है। सब अवस्थाओं में व्याप्त है।

अश्व का विशेष गुण उसका अति शीघ्र गति से धावन है। यदि अश्व का एक पाद तोड कर उसकी दौडने की शक्ति का नाश कर दिया जाय तो भी विशेष गुण नष्ट होने पर भी, वह अश्व ही रहेगा। जातिच्युत नहीं होगा। गधा या शूकर नहीं होगा।

तब मानवता के अपकर्ष करनेवाले गुणों - दुर्गुणों के नाश से भी मानव मानव ही रहेगा। हुक्का पानी बन्द का तब क्या अर्थ है? उसके व्यक्तित्व में समानता या समष्टिगत रूप फिर भी रहेगा ही। पर व्यक्ति निष्ठ रूप - अति प्रखर बुद्धि अति सुन्दर रूप, अति पुष्ट शरीर आदि का क्या होगा? यदि वे नष्ट हो जाँय तो व्यक्ति मानवता से च्युत नहीं होगा परन्तु इसकी मानवता का अपकर्ष हो जायगा। ह्रास हो जायगा जैसे विकलांग या मन्दबुद्धि विशेष गुणों के ह्रास के कारण सम्पूर्ण मानव नहीं है। जो व्यक्ति बुद्धि बल आरोग्य आदि के रहने पर भी पुत्र पैदा नहीं कर सकता उसको न + पुं. नपुंसक यह पुरुष नहीं है ऐसा कहते हैं अर्थात् समष्टिगत रूप से विहीन है यद्यपि

व्यक्तिगत रूप से हस्त पादादि अंगों की पारस्परिकता से सम्पन्न है।

तब जातिगत हानि जैसे नपुंसक होना व्यक्तिगत हानि लूला लंगडा अन्धा या बहरा होना।

स्वभाव मानव का व्यक्तिगत गुण है। इसको संस्कार भी कह सकते हैं। संस्कार के पश्चात् ही मानव के स्वभाव का परिष्कार होता है। जिसके बिना वह व्यक्ति प्रशस्त गुणों से वञ्चित हो जाय। द्रोणाचार्य ने एकलव्य से उसका अंगूठा मांग लिया। परशुराम की तरह यह शस्त्र विद्या काम नहीं आयेगी ऐसा नहीं कहा मृत्यु दण्ड भी नहीं दिया। पर उसको असम्पूर्ण रूप से आचरण करने पर बाध्य कर दिया। उसकी विशेषता या गुणवत्ता का नाश कर दिया मानव की श्रेष्ठता उसके गुणों से ही है।

जब स्त्री का गर्भकोश निकाल दिया जाता है तो स्त्री की परिपूर्णता का ह्रास या विघात किया जाता है। ऐसी स्त्रियों को विशेष कर जिनको कन्यायें ही हुई हैं उनकी मानसिक प्रवृत्तियां विचलित हो जाती हैं। अन्तश्चेतना विकृत हो जाती है। स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है। व्यक्तित्व का अपकर्ष हो जाता है। पूर्ण जीवन जी नहीं पाती। और अन्ततो गत्वा मानसिक रूप से विकृत या रुग्ण हो जाती हैं।

गांव में बैलों को सांड (षण्ढ) बना दिया जाता है। एतावता वे मानसिक रूप से विकृत नहीं होते। गायें दूध देती है बछडे भी पर एतावता गायें स्त्री की तरह शृंगार नहीं करती। तब स्त्री की कामना पूर्ति में और पशु की कामना पूर्ति में अन्तर है। मानवी की कामना सचेतन कामना है। कामना पूर्ति सचेतन कामना पूर्ति है और पशु की इच्छापूर्ति पाशविक है। सचेतन नहीं। मूल्यों की परिकल्पना मानव ही कर सकता है, पशु नहीं।

हिन्दु धर्म में धर्मशास्त्रों में विहित विधि-निषेध के आधार पर आचार संचालित होते हैं। संस्कारों को तो धार्मिक संस्कार ही कहा जाता है। संस्कार एवं आचार को नियमित करनेवाले ग्रन्थ सूत्र एवं स्मृति आदि दैव या ऋषिप्रोक्त होते हैं। अतः अवश्य परिपालनीय कोटि के होते हैं। पालन न करने पर पाप एवं प्रायश्चित्त की भीति रहती है। वर्णाश्रम एवं जाति कुल मानव - व्यक्ति के अधिकार में नहीं है। वासना पूर्व जन्माश्रित होती है और किसी कुल विशेष में व्यक्ति का जन्म पूर्व कृत सुकृतों के आधार पर होता है। नास्तिकों की बात अलग है।

पितरों को पारलौकिक सुख गया श्राद्ध आदि पारिवारिक कर्त्तव्य हैं। धर्मोदक मृतात्मा के लिए देना सब परिवार जनों का कर्तव्य है। अतः परिवार की सम्पत्ति पर मृत का एवं जीवित का दोनों का अधिकार रहता है। फलतः विधवा जो दूसरे कुल से आयी होती है एवं पति के मृत होने पर उसका परिवार की सम्पत्ति पर जीवित रहने एवं धर्म कार्यनिर्वाह के लिए अधिकार होता है। यह विधवा का अधिकार भी मृत पति के पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार के समान है। विवाह के उपरान्त पुत्रका जन्म पारिवारिक उत्तरदायित्व है। अन्यथा वंशविकास या अभिवृद्धि कैसे होगी ?

परिवार, तत् तत् समाज की विश्वास परम्परा को या सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को एकचिन्तन पद्धति या धारा को परिवार में उत्पन्न व्यक्ति में दृढमूल करता है जिससे वह बाल याव ज्जीवन उसी धारा से जुडा रहता है। जब पाठशाला में ध्रुव या प्रह्लाद का चरित्र पढाया जाता है तो वह चरित्र उस परिवार - समाज में पले व्यक्ति पर जो प्रभाव डालता है वह यावज्जीवन रहता है। उसी संस्कार को आगे की कक्षाओं में काव्य नाटक आदि पुष्ट करते हैं। वैखानस सम्प्रदाय में साहित्य वाङ्मय के अभाव में धार्मिक धारणा को दृढ करने का कोई आधार न रहा। अतः दर्शन आधार निर्बल ही रहा। यह सन्यास परिच्छेद की विशेषता सूत्रभाग में देखने पर स्पष्ट है।

वैखानस सम्प्रदाय या समाज में साहित्य के अभाव में भी धर्म में आस्था दृढ रही। जैसा शिला लेखों से पुष्ट होता है कि न केवल वैखानस मन्दिरों में वे अर्चक होते थे वरन् पाञ्चरात्र मन्दिरों में भी बहलतया वही अर्चक होते थे एवं आज भी अनेक पाञ्चरात्र मन्दिरों में वे ही पुजारी हैं। इसका कारण समाज की धर्म को व्यक्ति के अन्दर पुष्ट करने का प्रयास शिथिल या मन्द होने पर भी व्यक्ति का व्यक्तिगत विश्वास दृढ एवं अविचलित था। शैवों ने, जैनों ने एवं स्वयं रामानुजाचार्य ने राजाओं को अपने पक्ष में दीक्षित कर धर्म को राजा का एक उपकारक अंग बनाया अर्थात् उस समुदाय के सभी व्यक्ति राजा के प्रति सदा राजभक्ति दर्शायेंगे, विद्रोह नहीं करेंगे ऐसा राजा को विश्वास दिलाया पर वैखानसों ने राज्याश्रय द्वारा अपने मत में अन्य लोगों को दीक्षित नहीं किया। वे गर्भ वैष्णव थे। एवं इतर लोगों का उनके समाज में प्रवेश सम्भव न था। ऐसा होने पर भी अनेक पाञ्चरात्र के अप्रधान प्रयोग वैखानस सम्प्रदाय ने स्वीकृत या तो कर लिए हैं या अनदेखी कर रहे हैं। हाँ पाञ्चरात्र एवं वैखानस दोनों आलय पूजा, विष्णु के प्रमुख होने में समान रूप से विश्वास करते हैं। उत्सव दोनों मनाते हैं जहाँ दोनों सब

वर्णों का अधिकार समान रूप से मानते हैं। व्यक्तिगत एवं आलय पूजा का फल दोनों मानते हैं। श्रीमन्नारायण भक्त की रक्षा करते हैं, दोनों मानते हैं पर वैखानस स्वप्रयत्न को मुख्य समझते हैं जब कि पाञ्चरात्र भगवदनुग्रह को । प्रसाद एवं औषध सर्वसामान्य जन को वितरण के कारण समाज की सेवा में एक नया अध्याय जोड दिया जिससे समाज के सभी वर्गों में धार्मिक आस्था में दृढता आई। इह लोक से परलोक अधिक महत्त्वपूर्ण है यह विश्वास दृढ हुआ।

पूर्व मध्यकाल में एवं उत्तर मध्य काल में भी भारत में मुसलमानों का राज्य रहा। उत्तर भारत में तो १००० ई. से १७०० ई. तक प्रायः रहा पर दक्षिण में भी परवर्ती काल में मुसलमानों के आक्रमण से मन्दिर मूर्ति भञ्जक मुसलमानों का लज्जाजनक आचरण देखने को मिला। मदुरा मन्दिर की कहानी किसी से छिपी नहीं है। हाँ, विजयनगर साम्राज्य के स्थापित होने के पश्चात् कुछ राहत मिली जो अल्पकालीन ही रही। कर्णाटक में टीपू सुल्तान, दक्कन में बहमनी गोलकोण्ड के नवाबों ने जो क्रूर कर्म किये थे उनके असभ्य होने की निशानी हो थी। वैखानस अतः राज्य तन्त्र के चक्कर में न पडे यद्यापि उन्हें राज्याश्रय की लत पड गयी थी। शायद उनका समाज छोटा था। इतने बडे देश के लिए, उनका समाज, संख्या के आधार पर (धन एवं जन संख्या थोडी) कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता था। अत एव वैखानस समाज में धार्मिक उन्माद कभी नहीं सुना गया। सारा समाज सदा शान्त भाव से ही भगवत्सेवा में लगा रहा। सन्यास या ब्रह्मचर्य के अनावश्यक होने का हौवा कभी खडा नहीं किया। मन्दिरों में दान आते रहे। प्रसाद में वृद्धि होती रही। साधारण मन्दिरों पर राजाओं या सुल्तानों की नजर न गयी। वैखानस समाज व्यापार में कभी संलिप्त न हुआ। अतः इस समाज के ऊपर शासकों की तीखी नजर कभी न पडी। जैसे रामानुजाचार्य ने राजाओं को अपने मत में दीक्षित कर राज्याश्रय को अपने मत के प्रचार प्रसार में उपयोग किया वैसा वैखानसों ने कभी नहीं किया। इसीलिए जान बचाकर द्रविड देश से कर्णाटक में भाग आये। वडगलै, तेङ्गलै का सिरफुडव्वल और आज कल भी सुप्रीमकोर्ट में परस्पर विवाद इसी राज्याश्रय के परिणाम हैं। वैखानस सम्प्रदाय का कभी अन्य सम्प्रदाय के साथ झगडा फसाद नहीं सुना। उनकी आस्था केवल भगवत् सेवा में ही रही। निवृत्ति परक ही रहे। प्रवृत्ति की दिशा में आगे न बढे। अन्य किसी राजनैतिक प्रपञ्च में न पडे। जीवन का उद्देश्य केवल भगवत्सेवा से अन्य कुछ नहीं रहा। वैखानस समाज ने केवल पुरातन सम्प्रदाय या प्राचीन संस्कृति की ही रक्षा की। वेदाध्ययन को जारी रखा। पूजा प्रस्थान

को एक स्थिर एवं दृढ रूप दिया। वेदाध्ययन के कारण ही बौद्धमत राज्याश्रय के बावजूद भारत से तिरोहित हो गया। यह वैदिक शिक्षा का भारत के लिए वरदान रूप था। उसका ज्ञान वैखानस समाज को था अतः वेदाध्ययन के ऊपर उनका विशेष बल था। समाज में दृढता इसी से आयेगी यह उनका अटूट विश्वास था एवं समाज सेवा का एक कार्यक्रम। ऋषियों के चरित्र को मुनियों के इतिहास को बार बार दोहराते रहने से समाज की थाती की उन्नत पुरातन परम्परा को सजीव रखा। मरीचि, भृगु आदि तो ऋषि ही रहे पर विखना को तो देव ही बना डाला या कम से कम देव का अवतार। पाञ्चरात्र की अपेक्षा हम वैखानस ही प्राचीन परम्परा के अधिक समीप हैं एवं अधिक परिमार्जित तथा शुद्ध रूप के धारक हैं, ऐसा समाज में प्रतिष्ठित किया। प्राचीन वैखानस सूत्रों की तथा अन्य आर्ष वाङ्मय की सम्पूर्ण प्रामाणिकता स्वीकार कर वैखानस सम्प्रदाय में फूट पडने या विभक्त होने की सम्भावना को दूर किया। ऐसा न करने के कारण पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में फूट गयी। आसाम के महापुरुखिया धर्म में, बंगाल के चैतन्य सम्प्रदाय में फूट पड गयी उपसम्प्रदाय भी बने सदा परस्पर कलह के कारण। पर वैखानस समाज अविभक्त ही रहा। यही पाञ्चरात्र के ऊपर ऐतिहासिक विजय थी प्राचीन सम्प्रदाय के प्रहरी के रूप में ४० संस्कारों ने सारे जीवन के समस्त कार्य कलाप को समाहित कर लिया। प्रायश्चित्तों ने समाज में सहजतया व्याप्त स्खलन को क्षम्य बनाने का समाधानात्मक कार्य किया। संस्कृत भाषा का देवभाषात्व सब को बताया। उसकी गरिमा बनाये रखी गयी। उसी एक भाषा में आपामर से राजाधिराज को मन्दिर के उपचार एवं अन्य उत्सवादि सामाजिक भेद निर्विशेष रूप से व्यवहार में लाये गये। भगवान के सामने सब एक ही भाषा देवभाषा का प्रयोग करें जिससे सर्वजन समानता का भाव सर्वत्र उदय हो सके। भगवान सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापी है अतः राजा से भी अधिक प्रभाव शाली है यह भाव सतत रूप से सभी प्रजा जनों को पदे पदे बताया जाता है। भगवान राजा के द्वारा ही सबको पालता है ऐसा विश्वास दिलाकर वर्तमान एवं भविष्य की आशा को उज्वल बनाया।

वैखानसों का मन्दिर प्रशासन, धार्मिक कर्मकाण्ड, मरम्मत, रख रखाव उत्सव आदि की व्यवस्था तथा मन्दिर की आय में निरन्तर वृद्धि में उनका योगदान सदा

प्रशंसनीय रहा है। बिना किसी स्वार्थ भावना के उन्होंने मन्दिर की सेवा की। प्राशासनिक क्षमता का परिचय दिया। निःस्वार्थ सेवा भाव पर सदा ध्यान दिया। उनके इस क्षेत्र में एक मात्र अधिकार का यही रहस्य है। साधारण जनता से तथा राजकीय अधिकारियों से जमींदारों से अपना सम्बन्ध सानुकूल बनाये रखा।

देहात्मवादियों की उस समय भी कमी नहीं थी। आज भी ईश्वर को न मानने वालों की संख्या कम नहीं है। पर वैखानस आज भी यह मानता है कि सारी शक्तियां उसी के नियम से चलती हैं। भगवान परम स्वतन्त्र है। उसके कार्य करने के नियमों को जानना अत्यन्त असम्भव कार्य है। मानव बुद्धि के परे। भौतिकवादयों के भी।

वैखानस इस बात पर विशेष बल देता है। स्मार्ताचार में दस संस्कार ही मुख्य हैं तो वैखानसाचार में वैखानस गृह्य सूत्र संस्कारों से ही आरम्भ करता है। १८ शरीर संस्कार २२ दैव संस्कार द्विविधा ज्ञेयाः ब्राह्मा दैवाः प्रकीर्तिताः इत्येते चत्वारिंशत् भवन्ति। वर्षवर्धनादि संस्कार भी है। समाज के संस्कार व्यक्ति के संस्कारों से पृथक हैं। वंश की पवित्रता से समाज की पवित्रता है। पर वंश अपनी पवित्रता व्यक्तियों द्वारा ही रखता है। आज भी हम पंक्ति पावन हैं सरयूपारीण हैं ये पद सगर्व दोहराये जाते हैं। वंश की पवित्रता से जातियां दृढ हुई। वंश की पवित्रता विवाह से आती है। अनुलोम तो कथश्चित् स्वीकृत है पर प्रतिलोम तो किसी भी अवस्था में स्वीकृत नहीं हैं। अर्थात् नीच कुल से स्त्री ले तो सकते हैं पर दे न ही सकते। शायद 'स्त्रीरत्नं ग्राह्यं दुष्कुलादपि' यह स्मृतिवचन इसका कारण हो। वैखानस समुदाय तो प्रतिलोम के अत्यन्त विरुद्ध हैं (मरीचि पृ.९.)

वास्तु अध्याय में किनकी वस्ती कहां होनी चाहिए इसका संकेत दिया है। यह नगर योजना है। वर्ण व्यवस्था का एक निदर्शन।

हिन्दुसमाज का चरम प्राप्तव्य आध्यात्मिक है। अतः आध्यात्मिक समता है। आत्ममुक्ति के लिए सबका समान अधिकार है। कोई छोटा या बडा नहीं है। सब उसी परम पुरुष के अंग है। स्त्रीणामप्यधिकारोस्ति विष्णोराराधनादिषु। विष्णुपुराण। पादज भी भविष्यपुराण ब्रह्म ४१.४५. क्यों कि वे भी उसी शरीर के अंग हैं। पांव में चोट

लगने से उत्पन्न दर्द से सारा शरीर कष्ट का अनुभव करता है। अतः उसकी परम समग्रता में ही मानव मात्र की एक जातीयता है। निर्विवादरूपसे, परिणामतः, भगवान की कृपा के सभी समान रूप से अधिकारी हैं। अग्रज होने मात्र से परमपिता किसी के प्रति विशेष दयालु नहीं हो जाते। मोक्षप्राप्ति के लिए सबका समान अधिकार है। वर्णगत भेद नहीं है। सब एक पिता के बच्चे हैं अतः पिता की सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार है पिता की सम्पत्ति पिता का प्यार ही है जो सब पिताओं के पास समान रहता है। चन्द्रमा की चांदनी, सूर्यप्रकाश, वर्षा, भूकम्प, बाढ से सभी वर्ण के लोग समान रूप से प्रभावित होते है अतः वर्णों की श्रेष्ठता प्रकृति - परमेश्वर को ग्राह्य नहीं है।

बौद्ध धर्म ने क्षत्रियों का नाश किया। राजा का हिंसा करना कर्तव्य है । व्यक्तिगत रूप से आखेट करना। राजा के रूप में सब को दण्ड देना। मृत्युदण्ड विधान मात्र राजा का अधिकार है। काम और अर्थ दोनों के प्रति विशेष साध्यता है। अपने राज्य की रक्षा - रक्षा केलिए धन - धन संग्रह - धनसंग्रह के उपाय जिसमें हिंसा भी सम्मिलित है। रण केलिए, स्वक्षेत्र की रक्षा केलिए किसी विशेष भूखण्ड, या पर्वताग्र या नदीतीर की आवश्यकता या अनिवार्यता पड सकती है। उसको करगत करने के लिए प्रयत्न है। यह कार्य राष्ट्रीय कार्य है। राष्ट्र प्रेम का तकाजा है। राजा के कर्तव्यों में अन्यतम। राष्ट्रीय - स्पृहा, लोभ या काम तृष्णा। व्यक्तिगत भी हो सकती है। यौवनाढ्या को देखकर मदविह्वल होना काम ही होगा। राजा के लिए स्व धर्म भी। ईर्ष्या से प्रदेश विशेष को आक्रान्त करना भी काम ही होगा। स्वधर्मे निधनं श्रेयः भगवद्गीता के ये वचन स्वधर्म की परिभाषा करते हैं।

बौद्ध धर्म के कारण राज्यरक्षण में क्षत्रिय धर्मच्युत होगये। क्षत्रियों ने अपना कर्म छोडे दिया। स्वधर्म भ्रष्ट हो गये। यदि क्षत्रिय अपना स्वधर्म न भूलते तो भारत को सदियों गुलमी न देखनी पडती।

वैखानस ज्योतिषी भी हैं। नरवत्तजातकमे एक आजीवक का ज्योतिषी होना कहा हैं जिसका परिणाम उसके भविष्य फल जिज्ञासुओं के ऊपर निर्भर करता हैं। गृहस्थों पर निर्भर रहना वैरागी साधुओं के लिए उचित नहीं है। वैखानस सम्प्रदाय अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ मानते है क्यों कि समाज को सन्तति प्रदान द्वारा तथा धनार्जन द्वारा स्थिर रखते हैं। अन्य आश्रमी तो आर्थिक श्रम नहीं करते। धनोत्पादन नहीं करते। ब्रह्मचारी या सन्यासी गृहस्थसे प्राप्त भिक्षा पर ही निर्भर करते हैं।

जैसे रामानुज कूट है या जीयर स्वामी है वैसे वैखानसों का कोई एकप्रमुख या केन्द्र स्थान नहीं है। बुद्ध ने भी संघ की स्थापना की और भिक्षु भिक्षुणियों के लिए नियम बनाये। उन नियमों की जानकारी के लिए उनका सामयिक पारायण की भी व्यवस्था की जिससे नियम सारे कण्ठस्थ रहें ओर भुलाये न जा सकें। पर वैखानस हिन्दू धर्म के समान असंगठित धर्म ही है जिसका अपना कोई केन्द्र स्थान नहीं है। यह पाश्चरात्र और वैखानस का मूल भूत पार्थक्य है जिससे उद्भव और विकास की सरणि को जाना जा सकता है पाश्चरात्र का जन्म उन सस्थाओं के सम्पर्क व सहयोग से हुआ जिनमें धर्म व आचार के नियमन केलिए एक मूल स्थान है और वैखानस का उद्गाम वैदिक सम्प्रदाय से हुआ जिसका कोई केन्द्रीय या पोप जैसा स्थान नहीं है।

वैखानस ज्योतिष एवं वैद्य दोनों वृत्तियों को करते है। महाभारतका ५.३५.३७. श्लोक इन दोनों वृत्तियों से जुडे लोगों को साक्ष्य के अननुकूल मानता है। सच बोलना, सच न बोलना और झूठ बोलना ऐसे तीन प्रकार माने हैं। सच बोलते है अपने (साक्षीय) निर्वाह से पुण्य मिलता हैं। यह पुण्य इष्टापूर्ति के बराबर है। सच बोलनेवाला पुण्य का भागी होता है। पर झूठ बोलने वाला पाप का भागी होता है। नरकगामी होता है। महाभारत २.६१.७४ इन वृत्तियों के करने वाले तो साक्ष्य के लिए ही अनर्ह हैं।

सामुद्रिकं वणिक् चोरपूर्वं सलाकपूर्वं च चिकित्सकश्च
अरिं च मित्रं च कुशीलवंश्च नैतान् साक्ष्येषु अधिकुर्वीत सप्त। महा.५.३५.३७.

निश्चय ही महाभारत काल के समाज में तथा वैखानस काल के समाज संरचना में बहुत अन्तर है अतः वैखानस समाज का काल महाभारत काल से बहुत परवर्ती होगा समाज में आपस में कलह और विद्वेष भी बढा होगा। वैखानस गृह्यसूत्र में २५ अनुलोम प्रतिलोम जातियां दी है जो इस प्रकार हैं-- (प्रश्न १०,११,१२,१३,१४ एवं १५)

वृत्ति

सरक्षण की प्रथा भारत में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी जातियों के लिए वृत्तियां सुनिश्चित की गयी थी। जो इस प्रकार है।

१. अधो नापित, २. अभिषिक्त, ३. अम्बष्ठ, ४. अयोगव, ५. कर्मकार, ६. कुम्भकार, ६. खनक, ७. चक्रिका, ८. चक्रिन्, १०. चण्डाल, ११. चर्मकार, १२. चूचुक, १३. नाविक, १४. पारशव, १५. पुलिन्द, १६. पुल्कश, १७. भोज, १८.

मणिकार, १९. मत्स्यबन्धु, २०. मद्गु, २१. मागध, २२. रथकार, २३. रजक, २४. सवर्ण, २५. सूचिक।

मनु ने दसवें अध्यायमें अनुलोम प्रतिलोम का वर्णन किया हैं। सवर्ण और अभिषिक्त दोनो ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान है।

मनु-	व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।
अम्बष्ठ १०.८	स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकरा १०.२४.
पारशव १०.८	मनु।
उग्र १०.९	संकीर्ण योनयो ये तु लोमानुलोमजाः।
	अन्योन्यव्यतिशकृश्च तान्प्रवक्षाम्यशेषतः १०.२५
सूत १०.११.	
मागध १०.११	वर्णसंकर एवं संकीर्ण योनि दो पृथक् कोटियां हैं अनुलोम
वैदेह	प्रतिलोम।
क्षत्रा	आयोगव १०.१२.

जातियों की उत्पत्ति चातुवर्ण्य के संकर से हुई है जिससे अनुलोम प्रतिलोम अन्तराल व्रात्य इनकी उत्पत्ति हुई है।

ऊर्ध्व जात पुरुष से अधो जात स्त्री - पैदा अनुलोम नीच जाति के पुरुष से ऊपर जाति की स्त्री से पैदा प्रतिलोम अनुलोम से अनुलोम स्त्री से पैदा अन्तराल ब्राह्मण विधि हीन अन्यपूर्वा मृत भर्तृका से पैदा गोलक और जीव भतृका से पैदा कुण्ड और जीव भतृका से क्षत्रिय पुरुष से क्षत्रिय स्त्री में पैदा गूढोत्पन्न होता है उसको भोज कहते इसका अभिषेक नहीं होता पर। अभिषिक्त राजा का सेनापति होता है।

वैश्य से वैश्य में पैदा विधवर्ज्य मणिकार होता है शंख की चूडियाँ बनाने वाला होता है अशुद्ध।

शूद्र से शूद्र स्त्री जार से उत्पन्न मालवक यह अश्वपाल या अश्वतृणहारी होता है।

अनुलोम

ब्राह्मण से क्षत्रिय कन्या में जात सवर्ण अनुलोमों में सब से श्रेष्ठ अथर्वण विद्या

का अभ्यास उसका काम है। अश्वराजश्च संवाहन आरोहण राजा का सेनापति आयुर्वेद का अभ्यास।

गूढोत्पन्न का नाम अभिषिक्त।

अष्टांग आयुर्वेद एवं भूततंत्र का अभ्यास करे। अथवा ज्योतिष का अभ्यास विकल्प से करे।

विप्र से वैश्यकन्या में अम्बष्ठा कक्ष्या जीवी आग्नेयनर्तक, ध्वजविश्रावी शल्य चिकित्सी।

जार (ब्राह्मण) से कुम्भकार - कुलालवृत्ति नापित नभिके ऊपर हजामत बनानेवाला।

क्षत्रिय से वैश्यकन्या में मद्गु। यह मद्गु नर्म विदूषक होता है।

जारज अश्व विक्रयी आश्विक।

विप्र से शूद्र में पारशव - भद्रकालीका पूजन चित्र कर्म अंग विद्या तूर्याघोषण मर्दन वृत्ति।

जारोत्पन्न निषाद व्याडादि मृग पशुओं को मारना।

क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न उग्र इसका काम राजा की आज्ञा से दण्ड्यों को दण्ड देना है।

जार से शूलिकः शूलारोहण आदि यातना कृत्य। वैश्य शूद्र में चूचुकः क्रमुकताम्बूल शर्करादि क्रयविक्रयी।

जार से काटकार चटाई बनानेवाला।

अनुलोम से अनुलोम भी अनुलोम ही पिता या माता की जाति का अनुसरण करता है।

प्रतिलोम

क्षत्रिय से विप्र स्त्री मन्त्रवत् जात सूत शूद्र -मंत्रहीन उपनीत जार से मंत्रहीन रथकार द्विजत्व विहीन शूद्र धर्म बोधन भोजन रक्षा परिचर्या जीवी (अश्व)।

वैश्याद - ब्राह्मण स्त्री मागध शूद्र भी जिसको न खाय ऐसा भोजन करनेवाला

अस्पृश्य सब को नमस्कार करनेवाला लोगों की प्रशंसा कीर्तन गान प्रेषण वृत्ति।

गूढ चक्री लवण तेल विक्रेता।

वैश्य क्षत्रिय स्त्री से आयोगव जुलाहा कपडों और कांसे के काम जारज पुलिन्द - अरण्य में रहना और दुष्ट पशुओं का संहार।

शूद्र से क्षत्रिय स्त्री में पुल्कस ताडी का बनाना और बेचना।

शूद्र से वैश्यस्त्री वैदेहक। शूद्र भी जिसका स्पर्श नहीं कर सकता स्त्री शूद्र भी जिस भोजन को नहीं कर सकते ऐसा वन्यवृत्ति है पशु चराता है और उनका दूध बेचता है।

जारज है तो चक्रिक नमक तेल पिण्याक बेचना है।

मानब के सम्बन्ध में कुछ भी लिखने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि मानव एक समन्वित व्यक्ति है। वह केवल सामाजिक या मात्र धार्मिक या केवल अर्थ अर्जनशील या कामुक मात्र नहीं है वह इन सब को लेकर समन्वित रूप से रहता है। किसी भी अवस्था में किसी एक पुरुषार्थ -परक नहीं रहता। तब धर्मिक इतिहास लिखते समय सामाजिक व्यवस्था विशेषतः उसके तीन पहलू १. परिवार २. समाज तथा ३. राज्य का व्यक्ति के साथ सम्बन्ध परिशीलन आवश्यक है। मानव केवल परिवारिक सामाजिक या धार्मिक व्यक्तिमात्र नहीं होता ये सारे मिल कर उसके व्यक्तित्व को बनाते हैं।

ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र चारों वर्णों को माना है। तीन वर्णो का निषेकादि संस्कार है। इनका वेद में अधिकार है। जारज पतित व्रात्य को भी जीने का अधिकार है।

ब्राह्मण के कर्म है अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह क्षत्रिय के यजन अध्ययन दान वैश्य के भी यही तीन समान क्षत्रिय के अतिरिक्त प्रजापालन दुष्ट निग्रह युद्ध वैश्य के अतिरिक्त पशुपालन कुसीद वाणिज्य शूद्र के द्विजों की सेवा और कृषि।

ब्राह्मण के चार आश्रम -- ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, भिक्षु क्षत्रिय के आद्य तीन, वैश्य के दो, शूद्र--

ब्रह्मचारी अन्य बहुत सी बातों के अलावा उष्णोदक स्नान मधुमांस मत्स्य - मसालेदार -खटाई वाले और अभोज्यभोजन वर्जी भैक्षाचरण।

स्पष्ट है कि मधु, मांस और मत्स्य तथा मसालेदार भोजनका बहल प्रचार था।

ब्रह्मचारी चार प्रकार के- गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य और नैष्ठिक।

मनु ने गृहस्थ चार प्रकार के कहे हैं- वार्ता वृत्ति, शलीन वृत्ति, यायावर, घोराचार।

वार्ता वृत्तिः — कृषिगोरक्ष्य वाणिज्योपजीवी।

शालीन वृत्तिः नियमैर्युतः पाकयज्ञैरिष्ट्वा अग्नीनाधाय पक्षेपक्षे दर्शपूर्णमास-याजी चतुर्षु चतुर्षु मासेषु चातुर्मास्ययाजी षट्सु मासेषु पशुबन्धयाजी प्रतिसंवत्सरं सोमयाजी यायावर-हविर्यज्ञैः सोमयज्ञै र्यजति याजयति अधीते अध्यापयति ददाति प्रतिगृह्णाति षट्कर्मनिरतः।

नित्यमग्निपरिचरणमतिथिभ्योऽभ्यागतोभ्योऽन्नाद्यं च कुरुते। घोराचार च कुरुते नाध्यापयति ददाति न प्रतिगृह्णाति उञ्छवृत्तिमुपजीवति नारायण।

नियमैर्युक्तिः यजने, न याजयति, अधीते परायणः सायं प्रातः अग्निहोत्रं हुत्वा मार्गशीर्ष — ज्येष्ठमासयोरसिधारव्रतं वनौषधिभिरग्नि परिचरणं करोति।
वानप्रस्था - सपत्नीका अपत्नीकाश्चेति। सपत्नीका - चतुर्विधा - औदुम्बरः वैरञ्चि वालखिल्यः फेनपः।

१. औदुम्बर अकृष्टफला वाप्यौषधिभोजी मूलफलाशी लवणहिङ्गुलशुन मधुमत्स्यमांसपूत्यन्नधान्या अम्ल परस्पर्शन परपाकवर्जी देवर्षिपितृमनुष्यपूजी वनचरो ग्रामबहिष्कृतः सायंप्रातरग्निहोत्रं हुत्वा श्रामणकाग्निहोत्रं वैश्वदेवहोमं च कुर्वन् स्तपः समाचरति।

श्रामणकाग्निमेकमेवाधाय जुहोति इत्येके।

२. वैरञ्चिः – प्रातर्यां दिशं प्रेक्षते तां दिशं गत्वा तत्र प्रियङ्गु यव - श्यामकनीवारा-दिभिः लब्धैः स्वकीयानतिथींश्च पोषयित्वा अग्निहोत्र-श्रामणकवैश्वदेवहोमानारायणपरायणः तपःशीलो भवति।

३. वालखिल्य :- जटाधरः चरिवल्कलवसनः। अर्काग्निः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां

पुश्कलं भुक्तमुत्सृज्य अन्यथा शेषान् मासान् उपजीव्य तपः कुर्यात् अस्य सूर्य एवाग्निर्भवति इति आमनन्ति।

फेनप — उन्मत्तक निरोधकः शीर्णपतितपत्राहारी चान्द्रयणव्रतं चरन् पृथिवीशायी नारायणं ध्यायन् मोक्षमेव प्रार्थयते बहुविधाः।

तुलासीदास का प्रसिद्ध दोहा—

'तृण धरि ओट कहत वैदेहि' के मूल में वैखानस सूत्र १०,११,१२ में प्रोक्त सामाजिक व्यवस्था ही है तथा काश्यपज्ञानकाण्ड अध्याय १४ व्रात्य परिच्छेद में स्पष्ट है। तृणान्तरसम्भाष्यश्चेति समासः पृ.१८४

बहुविधा :- कालाशिका उद्दण्डसंवृत्ता अश्मकुट्टा उदग्रफलिनो दन्तोलूखलिका उञ्छ वृत्तिकाः मन्ददर्शनवृत्तिकाः कपोतवृत्तिका मृगचारिका हस्तादायिनः शैलफलकादिनो ऽर्कदग्धाशिनो वैल्वाशिनः कुसुमाशिनः पाण्डुपत्राशिनः कालान्तरभोजिनः एककालिकाश्चतुकालिकाः कण्टकशायिनो वीरासनशायिनः पञ्चाग्निमध्यशायिनः धूमाशिनः पाषाणशयिनोऽभ्यवगाहिनः। उदकुम्भवासिनः मौनिनः अवाक् शिरः।

सूर्यप्रतिमुखा ऊर्ध्वबाहुकाः एकपादस्थिताश्चेति।

विविधाचारा भवन्तीति विज्ञायत्ते॥ वैखानस सूत्र १.८.

भिक्षुका मोक्षार्थिनः

कुटीच का बहुद का हंसा परमहंसश्चेति चतुर्विधा भवन्ति।

कुटीच का — गौतम भारद्वाज याज्ञल्क्य हारीत प्रभृर्तिनामाश्रमेषु अष्टौ ग्रासाश्चरन्तः योगमार्गतत्त्वाज्ञा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।

बहूदका त्रिदण्डकमण्डलुकाषायधातुवस्त्रग्रहणवेशधारिणः ब्रह्मर्षि गृहेषु चान्येषु साधुवृत्तेषु मांसलवणपर्युषितान्नं वजर्यन्तः सप्तागारेषु भैक्षं कृत्वा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।

हंसा ग्रामे चैकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं वसन्तस्तदुपरि न वसन्तो गोमूत्रगोमय आहारिणो वा मासोपवासिनो वा नित्य चान्द्रायणव्रतिनो नित्यमुत्थानमेव प्रार्थयन्ते।

परमहंसा-वृक्षैकमूले शून्यागारे श्मशाने वा वासिनः साम्बरा दिगम्बरा वा न

तेषां धर्माधर्मै सत्यानृते शुद्ध्यशुद्ध्यादिद्वैतं सर्वसमाः सर्वात्मानः समलोष्ठ-काञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कुर्वन्ति।

मनु ने—

कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते।
वैदेहिकादन्ध्रमेदौ वहिग्रामप्रतिश्रूयौ॥ १०.३६.

टीका -वैदेह्यामेव जायते (अ.१०.३७) इत्युत्तरत्र श्रवणात् अत्राप्या-शकायां सैव संबध्यते। निषादात् वैदेह्यां जातः कारावाराख्याश्चर्मछेदनकारी जायते। अतएव औशनसे कारावराणां चर्मच्छेदनमेव वृत्तित्वेनोक्तम्। वैदेह-कादन्ध्रमेदाख्यौ ग्रामवहिर्वासिनौ। अन्तरा निर्देशद्वैदैहकेन च वैदैह्यां जातस्य गर्हितवैदे कस्याप्युचितत्वात् । कारावरनिषाद जात्योश्चात्र श्लोके संनिधानत्, कारावरनिषाद स्त्रियोरेव क्रमेण जायते।

मनु १०.८ ब्राह्मण से शूद्रा स्त्री जात = निषाद।
१०.११ वैश्य से ब्राह्मणस्त्री जात = वैदेह।
१० निषाद पुरुष से वैदेह स्त्री = कारावर।
१०.३६ विदेह पिता - कारावर स्त्री = आन्ध्र।
भागवत १२.१.२० में भी आन्ध्र को वृषल कहा है।

वैखानस द्वारा कमण्डलु धारण करने का विधान है। 'ये न देता इति कमण्डलुम्' वैग्रह २.२.३. वैखानस श्रौत सूत्र १०.१ बौधायन धर्मसूत्र १.३.८. मनु ४.५४-५५ तब वैखानस यति के अर्थ में प्रचलित और वैखानस सम्प्रदाय विशेषण के अर्थ में प्रचलित पृथक् मानना पडेगा। मनु २.६४, ४.३७; आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.३.२५ याज्ञ.८.५८.

आचार्य

उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥ मनु २.१४०.

कल्पो यज्ञ विद्या। रहस्यमुपनिषत्। जो शिष्य को उपनयन संस्कार से शुद्ध कर अर्थात् वेदाध्ययन के योग्य बनाकर वेद सकल्प और रहस्य पढावें उसे आचार्य कहते हैं। कल्प माने यज्ञ विद्या। रहस्य माने उपनिषत्। अर्थात् कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड

दोनों में प्रावीण्य सम्पादित करावे।

मरीचि ने अपने विमानार्चन कल्प (पृ.५) में आचार्य का लक्षण दिया है। जिसकी दीक्षा वैखानस सूत्रोक्त निषेकादि संस्कार से की गयी हो वही आचार्य है।*
(*तत्र सर्वकार्योपदेशकं वैखानससूत्रोक्तं निषेकादिसंस्कारैः संस्कृतमाचार्यम् -- मरीचि विमानार्चन कल्प पृ.५. अत्रि समूर्तार्चनाधिकार में अध्याय २७ श्लोक ११-१६ में भी प्राप्त है।)

आचार्य को भगवत् सन्निधि का लाभ प्राप्त है ऐसा वैखानस सम्प्रदाय में आचार्य के प्रति किये गये लक्षण से पता लगता है। अर्चक और आचार्य एक ही हो या अलग इस पर विशेष विचार नहीं है। अर्चक के पास कोई सामर्थ्य है अधिक प्रबुद्ध है ऐसा स्पष्ट नहीं है। हां पूजा के कुछ मन्त्र रट लिये हैं या यज्ञ के कुछ कर्मकाण्ड को साधारण गृहस्थ से अच्छा जानते हैं। अर्चक का स्थान परिचारक उपकारक जैसा होगा जो अध्वर्यू के साथ यज्ञ में प्राप्त सामान एकत्रित करने के लिए रहते हैं। इनको वेद या ब्रह्मज्ञान नहीं के बराबर आता है। क्या ये समाज में आदर के पात्र हो सकते हैं।

मरीचि ने अपने विमानार्चन कल्पमें अन्यत्र गुरु पद का प्रवेश किया है। ऐसा लगता है कि गुरु आचार्य से भिन्न व्यक्ति भी हो सकता है। तब आचार्य अर्चक और गुरु ऐसी तीन कोटियां उपस्थित कीं। स्थापक उपस्थापक अन्य वर्ग में पठित हैं।

मरीचि विमानार्चन कल्प पृ. २०३ में आचार्य के लक्षण—

वैखानस सूत्रेण निषेकादि संस्कारक्रियायुक्तान् विप्रान् वेदविदः शुद्धान् शुद्धित्रयोपेतान् वैष्णवान् वयस्सम्पन्नान् सुमनस्कान् अर्चनादिसर्वप्रयोगज्ञान् मन्त्रकल्पविदः श्रोत्रियान् अग्निसम्पन्नान् अहूय तेषु ज्ञानोत्कटं शुभदर्शनं श्रुतवृत्तशीलं सम्पन्नम् एकं गुरुं वरयेत्, यह तो हुई ज्ञान और शील की योग्यता अब शारीरिक योग्यता की बात जो इसी के साथ पठित है— हीनदीर्घातिरिक्तांग कालमत्सरापस्मार कुष्ठोन्मादोदरशर्करामधुमेहादि व्याधियुतान् कुनखश्यावदन्त-शिपिविष्टविद्धशेफपाखण्डान् राजपितृगुरुदेवब्राह्मणप्राज्ञवेददूषकान् कुपितान्ध- बधिर कुब्जवामनायाज्ययाजक कुलटापुत्रहीनातिवृद्धातिबालान् अर्थलुब्धान् विरूपकान् अन्यशास्त्रपारंगतान् पाखण्डभक्तान् अस्तमितोदितशयनान् अन्यदेवताभक्तान् नास्तिक भ्रान्तचित्तशठादीन् वर्जयेत्।

गुरु के आवश्यक गुण राजदूषक न हो, अन्य शास्त्र का विद्वान् न हो आयाज्ययाजक न हो, श्रौतस्मार्त कर्म तो अन्य मतावलम्बी भी करते हैं और अर्थ

लुब्ध का क्या अर्थ है?

क्रियाधिकार में आचार्य के लक्षण । १.२२-२५.
वैखानसेन सूत्रेण निषेकादिक्रियान्वितम् । १.२२.
विप्रं स्वाध्याययुक्तं वेदतत्त्वार्थदर्शिनम् ।
सौम्यं जितेन्द्रियं शुद्धं विष्ण्वार्चनपरायणम् ॥२३॥
ऊहापोहविधानेन ध्वस्तसंशयमानसम् ।
पत्न्यपत्ययुतं शान्तं स्नानशीलं च धार्मिकम् ।
आहूय देववत्पूज्य सर्वकार्योपदेशकम् ।
आचार्यं वरयित्वा तु तेनोक्तं सर्वमाचरेत् ॥२५॥

देवी भागवत ३.१२.३४ में वैखानसों को नित्यतापस कहा है एवं सात्त्विक भोजन करनेवाला कहा है अतः वे ही सात्त्विक यज्ञ कराने के लिए उपयुक्त ऋत्विक् हो सकते है।

वैखानसमुनीनां हि विहितोऽसौ महामखः ॥३४॥
सात्त्विकं भोजनं ये वै नित्यं कुर्वन्ति तापसाः ॥३५॥

आगे वियूपा मन्त्रपूर्वकाः कहा है। क्या ये वियूप एवं मन्त्रपूर्वक मख वैखानसों द्वारा प्रसार किये गये पूजा का अपर पर्याय है?

न्यायार्जितं च वन्यं च तथा ऋष्यं सुसंस्कृतम् ।
पुराडोशपरा नित्यं वियूपा मन्त्रपूर्वकाः ॥३६॥

पुरोडाशपराका मन्दिरों में भगवान के प्रसाद भक्षण से सम्बन्ध जोडा जा सकता है।

दक्षिण में जितने भी कारीगर हैं सुनार हो, लोहार हो, राज मिस्त्री, बढई हो सब अपने आपको आचारी या आचार्य कहते हैं। जनेऊ पहनते हैं। शादी विवाह अपने ही में करते हैं। और पौरोहित्य भी उनका अपना ही है । वैखानसों का तो इससे बढकर है। वे तो गर्भ वैष्णव हैं। जन्म जात आचार्य। उनके संस्कार दूसरा कोई नहीं करा सकता।

विश्वकर्मा च शूद्रायां वीर्याधानं चकार ह।
ततो वभूव पुत्रास्ते नवैते शिल्पकारिणः ॥
मालाकारः कर्मकारः शंखकारः कुविन्दकः।

कुम्भकारः कांस्यकारः षडेते शिल्पिनां वराः ॥
सूत्रधारश्चित्रकारः स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापात् अजात्या वर्णसंकराः ॥

— ब्रह्म वैवर्त पुराण ब्रह्मखण्ड अध्याय-१०.

विश्वकर्मा ने शूद्रा में वीर्याधान किया। उससे नौ पुत्र हुए जो सब शिल्पकार हुए। मालाकार, कर्मकार, शंखकार, जुलाहा, कुम्हार, कसैरा, ये शिल्पियों में श्रेष्ठ हैं। दर्जी, चित्रकार और सुनार ये ब्रह्म के शाप से पतित हो गये और जातिविहीन वर्ण संकर बन गये। निश्चय ही वर्ण व्यवस्था से बाहर होने के बाद अयाज्य हो गये। ब्राह्मण पुरोहितों का मिलना मुश्किल हो गया तो इन्हें अपना पौरोहित्य स्वयं करना पडा। ध्यान देने की बात है कि ये लोग आज कल केवल दो जगह मिलते हैं आन्ध्र में और तामिलनाडु में। सम्भव हो ये एक ही परिवार हो जो राज पोषण के कारण आन्ध्र से तामिलनाडु जाकर बस गया हो। इनका अपना कोई वेद नहीं है। इन्होंने एकायन या उख शाखा को अपनाया। निश्चय ही कोई ऐसा परिवार था जो कुटुम्ब का कुटुम्ब वैखानस हो गया। वैखानस सूत्रों पर भी बाद में कोई टीका — टिप्पणी नहीं की गयी। आज तक भी सारे ग्रन्थ जिनकी संख्या २८ हैं मुद्रित नहीं है। मरीचि आदि आचार्यों के ग्रन्थों की भाषा भी अत्यन्त शिथिल है। प्रबोध चन्द्रोदय आदि ग्रन्थों में वैखानस सम्प्रदाय का जिक्र तक नहीं है। अन्य दर्शन ग्रन्थों में खण्डन मण्डन नहीं है। तथा दर्शन के या धर्म ग्रन्थों में वैखानस सम्प्रदाय का कोई जिक्र तक नहीं है। प्रस्थान त्रय अर्थात् ब्रह्मसूत्र, गीता उपनिषदों पर वैखानस सम्प्रदाय सिद्ध टीका आज तक प्रकाशित नहीं है।

मनु ने कुछ क्षत्रियों के शूद्र होने की बात कही हैं।

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च
पौण्ड्रकाश्च चौड द्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः
पारदा पल्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः ॥ मनु.१०.४३-४४.

कुल्लूकभट्ट ने इस पर टीका करते हुए -- इमाः वक्ष्यमाणाः क्षत्रियजातयः (क्रियालोपात्) उपनयनादि क्रियालोपेन ब्राह्मणानां च याजानाध्यापन-प्रायश्चित्ताद्यर्थदर्शनाभावेन शनैः शनैः लोके शूद्रतां प्राप्ताः।

ब्राह्मणों के अभाव में ये क्षत्रिय जातियां क्रमशः शूद्र जातियां हो गयी। पौण्ड्र, चोळ, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव चीन किरात दरद खश। पौण्ड्र, चोळ, द्रविड और पल्लव ये दक्षिण की जातियां हैं।

वैखानसों को पल्लवों का राजाश्रय प्राप्त था और ये द्रविड देश के रहनेवाले थे। पर निश्चय ही क्षत्रिय राजवंश के नहीं थे। पर राजाओं के यहां काम करते थे। पर मनुकाल में वैखानसों की क्या सामाजिक स्थिति रही होगी यह कहना कठिन है। यवन (ग्रीक देशवासी) और शक क्षत्रिय कैसे होगये? शायद कुछ दिन राज्य करने से। शिवाजी को क्षत्रिय न कहना अब एक सामाजिक अपराध है।

मीमांसा ने शायद त्रिवर्ग को हो माना है। धर्म के विषय में ही विशेष प्रवचन है। मोक्ष के सन्दर्भ में नहीं। वैखानस सन्दर्भ में कार्य पूजा - प्रधान ही है। यज्ञ-प्रधान नहीं जब की मीमांसा का तात्पर्यार्थ वैदिक कर्मों की ओर ही है। और विधिनिषेध प्रयुक्त कर्मों का सम्पादन ही धर्म का सारांश है काम्यकर्मों का वैखानस में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है अतः प्रायश्चित्त का कोई मुख्य अवदान नहीं है, प्रायश्चित्त को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे सत्य अहिंसा अस्तेय इत्यादि नैतिक आचरण प्रधान है। क्योंकि नैतिक आचरण समाज की प्रतिष्ठित व्यवस्था को बनाये रखने केलिए विशेषत सानुकूल है सबको अतः ये इतने जिज्ञासा के सन्देह के विषय नहीं है। साधारणतया विदित भी हैं अतः आचार्य की सलाह की आवश्यकता नहीं हैं पर पूजा, मन्दिर निर्माण, मूर्ति निर्माण, प्रतिष्ठा आदि विषय नित्य नहीं होते और अनेक जन साध्य होते हैं तो कार्य में लोप या त्रुटि होने की विशेष सम्भावना है अतः आचार्य की देखरेख में होने की विशेष आवश्यकता है। क्यों कि पूजा वैखानस का विशेष अवदान है अतः आचार्य का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भृगुने अपने प्रकीर्णाधिकार में आचार्य का लक्षण दिया है –

वैखानसेन सूत्रेण निषेकादिक्रियान्वितम्।
विप्रान् वेदविदः श्रेष्ठान् धार्मिकान् ज्ञानतत्परान्।
ऊहापोहविधानेन ध्वस्वसंशयमानसान्।
पत्न्यपत्ययुतान् ध्वस्तसंशयमानसान्।
पत्न्यपत्ययुतान् शान्तान् स्नानशीलान् सुरूपिणः।
आहूय पूज्य तत्रैकं सर्वकर्योपदेशकम्। अध्याय.११.२-४.

काश्यप ज्ञानकाण्ड में भी अध्याय २१ ब्राह्मणों को बुलाकर उनमें से अन्यतम का वरण आचार्य के रूप में करे ऐसा ही लिखा है - वैखानसविदः शिष्टान् वेदतत्त्वार्थदर्शिनः सौम्यान् जितेन्द्रियान् शुद्धान् विष्वाकारधरान् आत्मा-रामान् ज्ञानामृतानन्दिहृदयान् ऊहापोहविधानेनध्वस्तसंशयमानसान् ध्यानयुक्तान् ब्रह्मरत्नमयान् विप्रान् राष्ट्रक्षेमे हितान् देववन्नमस्कृत्यानुज्ञाप्याहूय इत्यादि। जन्म से यदि आचार्य होते हैं तो वरण क्यों?

अत्रि ने समूर्तार्चनाधिकरण में —

आचार्यं वरयेत्पूर्वं सर्वकार्योपदेशकम्।
वैखानसेन सूत्रेण निषेकादिक्रियान्वितम् ॥२॥
विप्रं वेदविदां श्रेष्ठं नित्यस्वाध्यायसंयुतम्।
शौचाचारसमायुक्तं भक्त्याध्यात्मगुणैर्युतम् ॥३॥
तेन सूत्रविधानेन नित्यहोमसमन्वितम्।
पत्न्यपत्ययुतं शान्तं नारायणपरायणम् ॥४॥
आलयार्चाविधेर्मन्त्रान् प्रयोगं तदनुक्रमम्।
प्रायश्चित्तवेत्तारं समाहूयाभिपूज्य च ॥५॥
एतैर्गुणैस्सुसंपन्नमाचार्यं वरयेद्वरम्।
हीनातिरिक्तदीर्घाङ्ग कुब्जमन्धं च वामनम् ॥६॥
क्षयापस्मारकुष्ठैश्च पापरोगैः समन्वितम्।
क्रूरं मत्सरिणं षण्ढं पाखण्डं बधिरं तथा ॥७॥
उन्मादेनयुतं स्तेनं नास्तिकं शौचवर्जितम्।
विष्णुभक्तिविहीनं च चलचित्तं च वर्जयेत् ॥८॥
आचार्यं वरयित्वैवं तेनोक्तं सर्वमाचरेन्।

अत्रि ने न केवल सकारात्मक गुणों का उल्लेख किया है वरन् दुर्गुणों को निषेध का भी जिक्र क्रिया है। उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज में ये दुर्गुण व्याप्त थे पाखण्ड एवं नास्तिक पदों का प्रयोग क्रिया है इन पदों का क्या अर्थ है ठीक से नहीं कहा जा सकता क्यों कि अलग अलग ग्रन्थों में इनकी परिभाषायें समान नहीं है।

वासाधिकार में पारम्पर्यक्रमायतम् कहना नहीं भूले हैं।

आचार्य वरण के बिना आलयनिर्माणकार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सकता हैं।

शूद्र का यजमान होने का अधिकार नहीं है। पर काश्यप ज्ञानकाण्ड २१ अध्याय में शूद्रं वा अनुलोम वा . . . . कारयेद्विमानम् कहा है। वहीं 'सर्व वर्णिमः अनुलोमैश्च कारयेत्' कहा है पृ.४०.

अमरकोश १३६७ में मन्त्रव्याख्याकृत् व्यक्ति को ही आचार्य कहा है पर वैखानस सम्प्रदाय में जो व्यक्ति मन्दिर में पूजा निर्माण तत्सम्बन्धी कार्यों का जो निरीक्षण करे वह आचार्य होगा। तब आचार्य पद के दो अर्थ हुए - १. निरीक्षण-पति- जो कार्य विशेष का मार्गदर्शन करे २. सामाजिक स्थिति।

सोलह व्यक्तियों को चुनना चाहिए - स्थापकौ द्वौ च कुण्डानामध्वर्यून् षट् तथाविधान् एकन्तु वास्तुहोतारं द्वौ तथा ब्रह्मसोमयोः एकं वै स्नपनार्थश्च द्वै द्वेवार्चनकर्मणि शेषकर्मार्थमेकन्तु वृणुयात् षोडशर्त्विजः।

कार्य -सम्पादन करने के लिए आवश्यक कार्यकारियों कर्मियों की आवश्यकता से अधिक भर्ती न करने का स्टाफ -फार्मूला उस काल में भी लोगों को ज्ञात था। यह इसी से स्पष्ट है। दक्षिणा भी कितनी देना चाहिए यह भी अनेक स्थानों पर सेलरी फार्मूला और वेज स्ट्रक्चर प्राप्त है।

आचार्य की योग्यता—

१. सर्वकार्योपदेशक, २. विप्र, ३. वेददित्, ४.नित्यस्वाध्यायुत, ५. गृहस्थ, ६. पत्नी तथा अपत्य से युत, ७. दयादिगुणों से युक्त, ८.शुभलक्षणों से युक्त, ९. भूपरीक्षाआदि क्रिया - मार्ग का ज्ञाता १०. ज्ञानयोगवित्, ११. जितेन्द्रिय, १२नित्यध्यानपर, १३.निश्चल (मन), १४.नित्यार्चनपर, १५. वैष्णव एवं, १६. भक्तिमान् होना चाहिए ।

आचार्य का क्या अर्थ है या था पता नहीं बुद्ध को या महावीर को आचार्य नहीं कहते। राम या कृष्ण को आचार्य नहीं कहते। वैखानस और मरीचि आदि को भी आचार्य नहीं कहते पर शंकर, रामानुज, माध्व और वल्लभको आचार्य कहते है। आजकल तो आचार्य सब वर्गों के सब क्षेत्रों के लोगो के लिए प्रयोग में लाते हैं जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, रघुवीर या आचार्य अल्ह के रूप में वैष्णव, श्रीवैष्णव आदि सभी लोग व्यवहार में लाते हैं। वैखानस धर्म प्रश्न २.५.४ तथा ३.१५.१४ में वैखानस को आचार्य कहा है। धर्म सूत्र ९.१० में भी।

वैखानस गृह्यसूत्र में ३.५ वृष चर्म के उपयोग का सन्दर्भ प्राप्त है अर्थात् उसकाल में वृष चर्म प्रयोग समाज के आस्तिक वर्ग में भी प्रचलित था। अनु इह चर्म लोहितं कृष्णाजिनं प्राचीनग्रीवमुत्तरलोममास्तृणाति। मट्टी के वर्तनों को सूतक प्रेतक की अवस्था में फेंकना उस समय में भी रिवाज में था। ३.१६ पृ.४७ कपडों को साफ कर लिया जाता था। 'परिच्छदान् यथोक्तं शोधयित्वा' इत्यादि। चौड कर्म के प्रयोग मन्त्र में उस्तरे को तेज करने का विधान है। अर्थात् न केवल लोहे जैसी धातु का ज्ञान था उसका शस्त्र व अन्य उपकरण के रूप में ज्ञान था वरन् कार्य क्षमता के मन्द होने पर उसे तीक्ष्ण करने का भी ज्ञान था।

शिवोनामासि इति ग्रहणं क्षुरस्य
शिवोनामनर्थोत शिलायां तीक्ष्णीकरणम्।

रजत का बर्तनों के रूपमें भी ज्ञान था। गोवर का कण्डे का अग्निरूप में प्रयोग सूत्रकार को विदित था। वृषभशकृत्पिण्डैर्जातकाग्निं साधयेत्।

गरम और ठण्डे पानी से स्नान विधि ज्ञात थी। उष्णशीतभिरद्भिरेनं स्नापयित्वा वै.गृ. ३.१५ शायद बच्चों को गरम जल से स्नान कराते हों।

भिक्षा मांगने के लिए भी वर्ण भेद बताया गया है । उपनयन के पश्चात् जब बटु भिक्षा मांगने जाते है तो ब्राह्मण से – भवति भिक्षां देहि कहेगा। क्षत्रिय से – भिक्षां भवति देहि कहेगा। वैश्य से – भिक्षां देहि भवति कहेगा। वैखानस गृ.२.४.

ज्योतिष का प्रयोग समाज के हर वर्ग में बहलतया व्याप्त था। शिष्य को दण्ड से मारने का निषेध है। जब बात न सुने अतिक्रम करे तब भी। केवल दुष्ट वाक्य का गुरु प्रयोग कर सकता है। दुष्ट वाक्येनैव शपति। अतिक्रमानुरूपं कृच्छ्रमादिशति। किस कृच्छ्र का आचरण करावे और वह भी अतिक्रम के अनुरूप न ज्यादा न कम। वै.गृ. २.८. शिष्य का अपराध गुरु को प्राप्त होता है। यदि आज्ञाकारी न हो तभी शिष्य को छोड सकता है अन्यथा नहीं। गुरुणा शिष्यो रक्षितव्यो यस्माच्छिष्यकृतं दुरितं प्राप्नोति। अवश्यमकुर्वन्तं शिष्यं त्यजति। अन्यथा त्यागे पत्नीपुत्रशिष्याणां पतति।

विवाह की आठ विधियां वैखानस गृ.सू. ३.९. में ही ज्ञात थी। मातुरसपिण्डा पितुरसमान ऋषिगोत्रजातां नग्निकां कन्यां वरयित्वा। प्रवर का नाम नहीं लिया है। माता के असपिण्ड तथा पिता के गोत्र से भिन्न गोत्र के उत्पन्न वर से ही विवाह हो

सकता है। ध्यान देने की बात है कि मालाओं का आदान प्रदान और मंगल सूत्र का सन्दर्भ प्राप्त नहीं है। वैखानस सूत्र ३.२. विवाह का प्रयोजन धर्म प्रजासंपत्यर्थं यज्ञापत्यर्थं ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थम् ऐसा दिया है।

प्रसूता को नामकरण के वाद चालीसवें या पचासवें दिन के पूर्व पाक कार्य में न जाने दें। अर्थात् जननाशौच ११वें दिन समाप्त होने पर भी गृहस्थ के लिए पाक प्रयोग जिस भोजन को गृहस्थ गृहार्चन के समय भगवान को भोग लगाता है। उसके लिए अनर्ह है। अथ नामकरणमाचत्वारिंशदिवसादा-पञ्चाशद्दिनाद्वा पाके नैनां नियुञ्जीत।

वैखानस गृह्यसूत्र में यज्ञ अग्नि को अरणि से मथकर निकालने पर बडा जोर दिया है। इससे यह प्रतीत होता है कि अन्य उपायों से भी अग्नि पैदा की जा सकती थी लौकिकाग्नि का भी बार बार जिक्र आया है और ऐसे उपस्थित किया गया है मानों लौकिकाग्नि यज्ञाग्नि की अपेक्षा हेय या न्यून हो।

सूत्रों में विवाह के पश्चात् भी नगद दक्षिणा का जिक्र नहीं है — हुत शेषेण श्रोत्रियं, ब्राह्मणं तर्पयित्वा तस्मै ऋषभं दत्वानृणो भवतीति विज्ञायते यहां गोदान भी नहीं लिखा है।

शायद भारतीय समाज में कोई युग होगा जब समाज वर्ण व्यवस्था पर नहीं पर धर्म पर आधारित होगा। प्रत्येक धर्म को मानने वालों का एक वर्ग होगा जो धार्मिक भी होगा एवं सामाजिक भी। रोटी बेटी का व्यवहार उसी सीमित दायरे में होता होगा। वैखानस समाज को उस समय का मान सकते हैं जब समाज यज्ञ करनेवाले और यज्ञ न करने वालों में बटा हो। तभी मरीचि ने लिखा है कि पूजा फल के सन्दर्भ में जो यज्ञ के अनर्ह हैं वे भी यज्ञ फल पा सकते हैं। इस विषय अभी कुछ कहना गवेषणा सापेक्ष है। वैखानस सम्प्रदाय में उप सम्प्रदाय नहीं है। वैखानस सूत्र एवं अत्रि, कश्यप, भृगु, मरीचि के ग्रन्थ ही सब को मान्य हैं। सारी सामाजिक व्यवस्था आध्यात्मिक मूलक है। सब का विश्वास कर्म में है और उसके द्वारा फल और परिणाम में विश्वास। वर्णाश्रम का नियम सब पालते हैं। भोजन की शैली, व्यञ्जन एवं आवश्यक उपादान जैसे तेल घी सब्जीफल चावल तथा उससे तैयार होनावाला भोज्य पदार्थ पकवान का सेवन भी समान ही है। चाहे वे आन्ध्र में हो तामिलनाडु में या अन्यत्र।

वस्त्र परिधान प्रायः सबका समान ही है। आजकल प्राय जो लोग पारिवारिक परम्परा से हटकर अंग्रेजी स्कूलों में पढकर आये हैं वे पैन्ट आदि पहरने लगे है। उनमें

भी सादा वस्त्र तथा कम भडकीले रंग वाले वस्त्र ही अधिक उपयोग में हैं। अधुनातन फैशन का भोजन एवं वस्त्र के सम्बन्ध में अभी भी सादा ही है।

वैखानस सम्प्रदाय इस संसार को ही अन्तिम या परिपूर्ण नहीं मानते। मानव नियति इससे ऊपर है। वैकुण्ठ या अन्य स्वर्गलोक हैं जहाँ मानव को जाना है वही उसका प्राप्तव्य या गन्तव्य स्थान है। कहाँ उसका स्थान है। उस स्थान पर उसको कुछ कार्य करना है। उसको सायुज्य सालोक्य आदि संज्ञाये दी हैं। उसी को प्राप्त करने के लिए इस संसार का कार्यजाल उसके अनुकूल बनाने का सदा प्रयत्न करता है।

और्ध्वदैहिक कर्मों में आपद्दाह्य एक कोटि है। ५.९ इसी प्रकार अदाह्यों की भी एक कोटि है।

अवतारों में बुद्ध को नहीं माना और भिक्षुओं के लिए कथित निषिद्ध वस्तुओं का उपयोग — नृत्य, संगीत, फूलमाला, सुगन्ध, उबटन मुलायम बिस्तर सोने चांदी के उपहार पूजा में भगवान के लिए स्वागतार्ह माना।

संसार को मिथ्या या तुच्छ भी नहीं मानते संसार से पराङ्मुख होने के लिए भी नहीं कहा। गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है। पुत्र कलत्र का संरक्षण विहित किया पर अध्यात्मव्यवस्था को सर्वोपरि मानते हुए।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणः नियमान् केवलान् भजन्॥ मनु.४.२०४.

अहिंसा - सत्य - अस्तेय - ब्रह्मचर्य - अपरिग्रह ये यम है एवं शौचसन्तोष तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानानि ये नियम हैं। यम और नियम दोनों का पालन करना चाहिए। एक दण्ड नहीं त्रिदण्ड सन्यास मानते हैं।



(భృగుః) (అత్రిః) (విఖనసాచార్యః) (కాశ్యపః) (మరీచిః)

अध्याय आठ

मूर्तिः शब्दार्थ अमरकोश में मूर्ति का अर्थ काठिन्यकाययोः कहा है और ठोस और आकार इन दो अर्थों में प्रयुक्त है। मूर्त और मूर्ति का अर्थ कठिन या कठोर किया है। मूर्ति और बेर शब्द जो वैखानस सम्प्रदाय में प्रचलित शब्द हैं वे दोनों मूर्ति या विग्रह के अर्थ में उपलब्ध नहीं है। अमर २,००० अर्चा पद पूजा और मूर्ति दोनों अर्थों में उपलब्ध है। अन्य पर्यायवाची पद ये हैं — प्रतिमानं, प्रतिबिम्बं प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिछाया, प्रतिकृति अर्चा प्रतिनिधि - मूर्त का अर्थ मूर्ति में स्थित ऐसा भी किया है। अमरकोश ने पूजा और उपासना पद अलग अलग पढ़े हैं। पूजा नमस्या अपचितिः सपर्या चार्हणा समाः १४२१. तथा वरिवस्या तु सुश्रूषा परिचर्याप्युपासना - १४.२२. पर लोह प्रतिमा वाची शब्द सूर्मी, स्थूणा, अयः प्रतिमा पद प्राप्त हैं। विग्रहपद का अर्थ अमरकोश १२१४ में शरीर तथा विस्तार किया है। विस्तारो विग्रहो व्यासः २२९३ विस्तृत माने मूर्ति जो कि अव्यक्तरूपका विस्तारमात्र है।

बेरः वैखानस का विशिष्टपद

प्रायः बेर पदका प्रयोग वैष्णवागमों को छोड कर अन्यत्र नहीं है। जिन समाजों में बेर के अतिरिक्त अन्य पद प्रयोग में है उन में विग्रहाराधन का वह विशिष्ट स्थान नहीं है जो वैखानस पाञ्चरात्र सम्प्रदायों में है। मोनियर - विलियम्स जैसे स्थूलकाय कोश में बेर पद पठित नहीं। अमर कोश में भी नहीं है।

वैखानस सम्प्रदाय में मूर्ति को अर्चावतार कहते हैं अर्थात् भगवान का अर्चारूप से संसार में अवतरण।

मूर्ति- पूजा की प्राचीनता

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् जातमग्रतः।

तेन देवाऽयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ यजु. ३१.९

जो सबसे पहिले उत्पन्न हुआ वह पुरुष परमात्मा यज्ञावतार है। उसका बर्हि पर प्रोक्षण करते हुए देवता और साध्य तथा जो ऋषि हैं उन्होंने पूजन किया।

अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजद्यज्ञं तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञः इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत्।

परमात्मा ने यज्ञ नामक रूप को अपनी प्रतिमा उत्पन्न किया इसी से ईश्वर को यज्ञ रूप कहते हैं।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ७.२०. में मूर्ति को ले जाकर बालालय में रखने का सन्दर्भ प्राप्त है।

शतपथ ब्राह्मणमें — द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तञ्च १४.५.३.९.

ईश्वर साकार और निराकार मूर्त और अमूर्त दोनों हैं। पर विशेषता यह है कि दोनों रूप हैं।

शतपथ में ही अन्यत्र — उभयं वा एतत्प्रजातिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च, परिमितश्चापरिमितश्च १.४.५.३.१.

जैसे मूर्त और अमूर्त दोनों एक साथ है ठीक उसी प्रकार यह प्रजापति परिभाष्य भी है और अपरिभाष्य भी अर्थात् उसका वर्णन किया भी जा सकता है नहीं भी। यह सीमित भी है असीमित भी परिमित भी अपरिमित भी। इसीलिए वैखानस सम्प्रदाय में सकल निष्कल दोनों प्रकार का कहा है। गुणधर्मादि विशिष्ट है और निरुपाधिक है। शब्दशक्ति से परे है विभु है।

अपनी प्रतिमा की सृष्टि की। वह प्रतिमा यज्ञ रूप थी। इसीलिए परमात्मा को यज्ञ रूप कहते हैं।

यदा देवायतनानि कम्पन्ते, देवता प्रतिमा हसन्ति, क्रन्दन्ति, नृत्यन्ति, स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ते तदा प्रायश्चित्तं भवतीदं विष्णुर्विचक्रमे इति स्थालीपाकं हुत्वा सर्वभूताधिपतये स्वाहा चक्रपाणये स्वाहेश्वराय स्वाहा सर्वपापशमनायेति व्याहृतिभिः साम गायेत - षड्विंश ब्राह्मण।

यहां पर देवता प्रतिमा का हंसना रोना नृत्य करना आदि दिया है निश्चय ये सब क्रियायें बिना मूर्तिके सम्भव नहीं है।

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में इन्द्र का आकार वर्णित है।

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे, इन्द्रो वृत्राणि जिघ्रन्ते, जगृम्भाते दक्षिणमिन्द्रहस्तम्, अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य तृप्त एवेनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्त-र्पयति तस्मै प्रीता इषमूर्जं च यच्छति इत्यादि श्रुतिभागेन प्रतिपादितं देवतानां शरीरवत्वं इन्द्रियवत्वं दातृप्रतिगृहीतृत्वमवलोक्याशुमालिप्रतापदारित रक्षोगण इव ऋ.८.१७. ८-९.

बृहत्संहिता अध्याय ४६ में --

अनिमित्तमङ्गचलनस्वेदाश्रुनिपातजल्पनाद्यानि ।
लिङ्गार्चायतनानां नाशाय नरेश दिशानाम् ।।८।।
दैवतयात्रा शकटाक्षचक्रयुगकेतुभङ्गपतनानि
सम्पयसि न सादनसङ्गश्च न देशनृपशुभदाः।।९।।
देवयात्रा के समय मन्दिर रथ का चक्र, ध्वजभङ्ग आदि हो तो अशुभ है।

बृहदा १.२.१ सोऽर्चन्नचत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चेत वैमेकमभूत ।
मैत्री ४,६ ता अभिध्यायेद् अर्चयेत् निह्नुयात्
६.५ ओमित्युक्तेनैताः प्रस्तुता अर्चिताः
मुण्डक १.२.६ प्रियां वाचभिवदन्त्योऽर्चयन्त्यः
३,१,१० तस्मादात्मज्ञमर्चयेद्भूतिकामः
महानारायण १३.१ अर्चयन्ति तपः सत्यम्
प्रश्न ६.८ ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता
रामतापनी ८६ रत्नासने देशिकं चार्चयित्वा
गीता ७.२१ श्रद्धयार्चितुमिच्छति
रामोत्तर ४ जप होमार्चनादिभिः

प्रतिमा

श्वेताश्वतर ४.१४ न तस्य प्रतिमास्ति
रामोत्तर ४ पाषाणप्रतिमादिषु

मूर्ति

मैत्री ६.१४ कालो मूर्तिरमूर्तिमान्
ऐतरेय ३,२ ताभ्योऽतप्ताभ्यो मूर्तिरजायत या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्
श्वेताश्वतर १.१३ वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते
महानारायणो १५.६ विश्वमूर्तिषु
वासुदेवोप २ ब्रह्मादयस्त्रयोमूर्तयः
रामपूर्वतापनी १६ रेफारूढा मूर्तयः स्युः
गीता १४.४ मूर्तयः सम्भवन्ति याः
हरिश्मशार्यहरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा
अवर्धत अर्वद्भर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरिति विश्वा दुरिता परिषद् ही।

ऋ. १०.९६.८.

केश और श्मश्रु स्याम, शरीर फौलाद जैसा, सोमपान से मस्त वेगवान अश्वों से भक्तों के संक्षण के लिए आतुर भक्तों की ओर जाते हुए। ऋ.१०.५.७ में भी दाढीमूंछ के स्याम होने का वर्णन है। अर्थात् सदा जवान रहते हैं।

महे च न, त्वामद्रिव: पराशुल्काय देयम्

न सहस्राय नायुताय वज्र वो न शताय शतामध: ऋ.८.१.५.

चत्वारि शृंगास्त्रयोस्य पादा ऋ.४.५८.२.

चार सींग तीन पाद इत्यादि

नहीं निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम्-

केनभाष्य

क्यों की निरुपाधिक ब्रह्म का मन्दबुद्धि ध्यान नहीं कर सकते अत: उनको सगुण ही का ध्यान करना चाहिए। देवतासाधक विग्रहादिपञ्चकं नाम १) विग्रह: २) हवि:स्वीकार: ३) तद्भोजनम् ४) तृप्ति: ५) प्रसादश्चेति।

देवता साधक पांच लक्षण विग्रह अर्थात् मूर्ति। जैसे सहस्राक्षो गोत्रभित् वज्रबाहु: इन्द्र के सौ नेत्र तथा वज्र को धारण करनेवाली सौ बाहु है। हवि को स्वीकार करना तथा हवि का भोजन और तत् फलस्वरूप तृप्ति पाना तथा तृप्ति पानेके बाद तृप्त एवैनमिन्द्र: प्रजया पशुभि: तर्पयति। जब इन्द्र तृप्त हो जाता है तभी भक्त को सन्तान और पशुओं को प्रदान कर खुश करता है।

रामोत्तरतापनीयोपनिषत् में लिखा है — अहं सन्निहितस्तत्रपाषाणदि-प्रतिमादिषु तृतीय खण्ड श्लोक १३ आडयार संस्करण पृ. ३३४.

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती

मनोमयी मणिममी प्रतिमाष्टविधा स्मृता। भागवत.११.२७.१२.

यह प्रमाणित करने की आश्यकता नहीं है कि भगवान की मूर्ति है। भगवान सशरीर है। यह तो श्रुति सिद्ध है।

छान्दोग्य नामरूपे व्याकरवाणि ६.३.२

छान्दोग्य नामरूपयोर्निर्वहिता ८.१४.१

बृहदारण्यक तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत १.४.७.

बृहदारण्यक नामरूपे सत्यम् १.६.३.

मुण्डक नामरूपमन्नं च जायते १.१.९.

यथा नद्य: नामरूपे विहाय:

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः ३.२.८ मुण्डक

येन वा रूपं पश्यति ५.१. ऐतरेय

यतीनां मन्त्रिणां चैव ज्ञानिनां योगिनां तथा।

ध्यानपूजानिमित्तं हि तनूर्गृह्णाति मायया ॥

केवल मन्दमतियों के लिए ही भगवान का शरीरी होना आवश्यक हो ऐसा नहीं है यतियों मान्त्रिकों ज्ञानियों एवं योगियों के ध्यान एवं पूजा निमित्त भगवान माया से शरीर धारण करते हैं।

ये मूर्तियां तो अर्चावतार हैं या स्वयम्भू हैं। अवतार हैं माने स्वर्ग से पृथ्वी पर आयी हैं उसका अर्थ स्थूलरूप से चलकर आना नहीं है वह दिव्य तेज जो स्वर्ग में था अब संसार उतर आगया है, या स्वयम्भू है अर्थात् किसी पुरुष प्रयत्न के बिना भूमि में से बाहर निकला है।

पुराणों में प्राप्त स्मृति विषयों को दो कालखण्डों में विभक्त कर सकते हैं। स्मृति की वह सामग्री जो कि पुराने विशुद्ध ग्रन्थ जैसे मनु याज्ञवल्क्यस्मृति में प्राप्त है। ये सब ईसा की द्वितीय शती के या उसके समकालिक होंगे। मुख्यतः ये विषय हैं वर्णाश्रम धर्म, आचार, आह्निक, भक्ष्याभक्ष्य, विवाह, अशौच, श्राद्ध, द्रव्यशुद्धि, पातक, प्रायश्चित्त, नरक, कर्मविपाक एवं युगधर्म आदि।

द्वितीय कालखण्ड में नूतन विषयोंका समावेश किया गया है जिनमें मुख्यतः दान, दीक्षा, ग्रहनक्षत्र, होम, नवग्रहादिशान्ति, मूर्ति, मूर्तिप्रतिष्ठा तथा मन्दिर से जुडे अन्यविषय, तीर्थस्थल उत्सर्ग, व्रत, पूजा इत्यादि। ये विषय मनु में या याज्ञवल्क्य में प्राप्त नहीं है।

मत्स्यपुराण अध्याय २५८-२६१ में प्रतिमालक्षण तथा २६४ -२७० में मूर्ति प्रतिष्ठा और वास्तु का वर्णन है। इन विषयों का मत्स्य पुराण में समावेश अध्यापक हाजरा ५५०-६५० ई. मानते हैं ।

हरप्रसाद शास्त्रीने नेपाल में एक प्राचीन गुप्त - कालीन लिपि में लिखित स्कन्दपुराण की प्रति प्राप्त की है तथा उसका विवरण हरप्रसाद शास्त्री रिपोर्ट खण्ड २. पृष्ठ. १४१ पर प्राप्त है उस में शिव की पूजा का वर्णन प्राप्त है। अर्थात् ईसा की पांचवीं शती तक पूजा सामग्री का पुराणों में समावेश होने लगा था। वैसे द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भकाल से पूजा की दिशा स्थिर हो गयी थी। अग्निपुराण में भी अध्याया २१-७० में पूजा का वर्णन प्राप्त है। नारद पुराण में भी १.१३. पर मन्दिर

निर्माण प्राप्त है।

गाय के जैसे सर्वांगमें व्याप्त दूध स्तनद्वारा बाहर निकलता है वैसे सर्वगत दिव्यतेज प्रतिमाओं में चमकता है।

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखात् यथा।

तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते॥

निरुक्त (५०० ई.पू.) में मानव आकार की देवमूर्ति बनाने का संकेत प्राप्त है।

श्वेताश्वतर उपनिषत् ४.१९ में - न तस्य प्रतिमास्ति ऐसा उपलब्ध है। अद्वैतव्याख्याताओं ने यद्यपि उसका अर्थ उपमा किया है तथापि प्रतिमा शब्द मूर्ति अर्थमें साधारण बोलचाल में भी प्रयुक्त है।

रामतापनीयोपनिषत् में यद्यपि सन्दर्भ है पर इस, उपनिषत् का काल के सन्दर्भ में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। श्वेताश्वतर ४.२० में 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुसा पश्यति कश्चनेनम्' लिखा है अर्थात् उसके रूप को आंखो से कोई नहीं देख सकता है। ऐसा ही कुछ श्वेताश्वतर ४.१९ में न तस्य प्रतिमा यस्य नाम महद्यशः तथा कठ ३.९ में रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव लिखा है।

मनु ने भी मूर्ति पद का प्रयोग किया है।

आचार्यो ब्रह्मणा मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः

अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥ २.२२६.

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।

उच्चावचानि भूतीनि सततं चेष्टयन्ति याः। मनु १२.१५.

महाभारत में -

तीर्थेषु पशुयज्ञेषु काष्ठपाषाणमृण्मये

प्रतिमादौ मनो येषां ते नराः मूढचेतसाः

यहां प्रतिमा पद का अर्थ पूजा के लिए प्रयुक्त मूर्ति है।

यथा हि लोहनिष्यन्दो निषिक्तो बिम्बविग्रहम्

उपैति तद्वज्जानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम् — महा. १४.१८.८.

भागवत में भी

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स एव गोखरः १०.८४.१३. अग्नि ६१.२५ में विग्रह को आत्मा कहा है।

पाणिनि में ५.३.९६. तथा ५.३.९९. प्रतिकृति पद प्रयुक्त है। पतञ्जलि ने अर्चा पद का प्रयोग किया है और मौर्यों द्वारा सोने की मूर्ति बना कर बेचने का भी उल्लेख है-- मौर्यैः अहिरण्यार्थिभिः अर्चा परिकल्पिता।

गवां सर्वाङ्गिजक्षीरं स्रवेत्स्तनमुखात् यथा
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥

जैसे सारे शरीर में व्याप्त दूध गायके स्तनसे ही बाहर निकलता है वैसे सर्वव्यापक देव प्रतिमामुख से दिव्य सन्निधि प्रदान करते हैं।

प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं प्रजत्।

वज्र

देवतारूपनिर्माणं कथयस्व ममानघ
यस्मात्सन्निहिता नित्यं शास्त्रवत्साकृतिर्भवेत् वि.ध.३.२,१.
चित्रसूत्रं न जानाति यस्तु सम्यक् नराधिप
प्रतिमा लक्षणं वेत्तुं न शक्यं तेन कर्हिचित् ॥२॥ मार्कण्डेयः

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के ४४-८५ अध्यायों में प्रतिमा लक्षण दिया है। प्रतिमा बनाने का विधान नहीं दिया है पर प्रतिमाओं के लक्षण दिये हैं। विधान क्यों नहीं दिये हैं ? अध्याय ४३ श्लोक ३१-३२ में कहा मैं कहा है कि —

यथा चित्रं तथैवोक्तं खातपूर्वं नराधिप।
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लोकेषु दर्शयेत् ॥ ३१ ॥
शिला दारुषु लोहेषु प्रतिमाकरणं भवेत्।
अनेनैव विधानेन यथाचित्रमुदाहृतम्।

अर्थात् प्रतिमा का निर्माण भी व्यक्तिगत वर्णचित्र नृत्य जैसा ही है। पर लक्षण जो दिये हैं वे तो केवल मार्ग निर्देशन सूत्र हैं।

मन्दिर सुरूप होनी चाहिए। सारे लक्षणों से युक्त? पर स्थापत्य की अन्य विधाओं को अनेक मण्डपों में देखा जा सकता है। चित्रकर्म वर्णकर्म स्थापत्य शिल्प मूर्तिकला मन्दिर में ही संगीत मण्डप, नाट्य या रंग मंडप रहते थे। निश्चय ही जिसप्रकार का भक्त आता था उस प्रकार की सेवा का अवसर उसे मिलता। संगीतज्ञ के संगीत सेवा का विद्वान को सरस्वतीभवन में अपने वैदुष्य प्रदर्शन का अतः इतने मण्डप होते थे और क्यों कि सभी का प्रवेश सम्भव था अतः सबको अवकाश मिलता था। मन्दिर में झाड़ू देना, बर्तन (उपकरण) साफ

करना। गोबरों का उपलेपन आदि अनेक प्रकार की सेवायें प्राप्त हैं। नाथ द्वारा या तिरुपति जैसे मन्दिरों में इसे अपना हक समझ कर बडे बडे सम्पन्न और उच्च पदस्थ अधिकारी आकर करते हैं।

सारे कला कर्मों का मूल एक ही है। चित्र संगीत नृत्य साहित्य द्वारा भगवान की अपने सामर्थ्यानुसार सेवा।

वज्रउवाच

किं कर्त्तव्यं मनुष्येण किं कुर्वन् सुखमेधते
अस्मिंल्लोके परे चैव केनाप्नोति महत्सुखम् ॥१॥

मार्कण्डेय उवाच

अन्तर्वेदि बहिर्वेदि पुरुषेण विजानता
देवता पूजनं कार्यं लोकद्वय-मभीप्सता ॥२॥
यज्ञेषु देवयजनमन्तर्वेदि प्रकीर्तितम्
बहिर्वेदि तथेवोक्तमुपवासव्रतादिकम्।
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकस्तान् बुभूषता ॥३॥
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते
विशेषेण कलौ काले कर्तव्यं देवतागृहम् ॥४॥
कृतत्रेताद्वापरेषु नराः पश्यन्ति देवताम्।
तिष्यं प्राप्य न पश्यन्ति पूजास्त्वर्चागता यतः॥५॥
कृता दिष्वपि दृष्ट्वा च देवान्मनुज सत्तम
अर्चागतविशेषेण पूजयन्ति विधानतः॥६॥
चित्रसूत्रविधानेन देवतार्चां विनिर्मिताम्
सुरूपां पूजयेद्विद्वांस्तत्र संनिहिता भवेत् ॥७॥
स्वाकारां लक्षणोपेतां यस्तां सम्पूजयेन्नरः
स सर्वकामानवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥८॥
अस्मिंल्लोके परं चैव सुखवान्स भवेत्सदा
अथार्चां लक्षणैर्हीनां यस्तु पूजयते नरः॥९॥
प्रसादकरणं पुण्यं देवार्चाकरणं तथा
सुरार्चापूजनं पुण्यं तत्र पुण्या नमस्क्रिया ॥१०॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सुरार्चां लक्षणान्विताम्

कारयेत्पूजनं विद्वान्नत्वलक्षणसंयुताम् ॥११॥

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वज्र ने कहा —

रूपगन्धरसैहीन: शब्दस्पर्शविवर्जित:
पुरुषस्तु त्वया प्रोक्त: तस्य रूपमिदं कथम् ॥ वि.ध.३.४६.१.

मार्कण्डेय उवाच

प्रकृतिविकृतिस्तस्य द्वे रूपे परमात्मन:
अलक्ष्यं तस्य तद्रूपं प्रकृति: सा प्रकीर्तिता
साकारा विकृतिर्ज्ञेया तस्या सर्वं जगत्स्मृतम्
पूजाध्यानादिकं कर्तुं साकारस्यैव शक्यते
स्वतस्तुदेव: साकार: पूजनीयो यथाविधि
अव्यक्ताहि गतिर्दु:खं देहभृद्भिरवाप्यते
अतो भगवतनेन स्वेच्छया तत्प्रदर्शितिम्
प्रादुर्भावे यथाकारं तदर्चन्ति दिवौकस:
एतस्मात् कारणात्पूजा साकारस्य विधीयते
हेतुमच्च तदाकारं तन्मे निगदत: श्रुण ॥ ६॥

पुरुष तो रूप रसगन्ध हीन है शब्दस्पर्शशून्य भी है तब ऐसे पुरुषका रूप कैसे सम्भव है ?

मार्कण्डयने कहा -

उस परमात्मा के प्रकृति और विकृति ऐसे दो रूप हैं। प्रकृति रूप अलक्ष्य है। साकार रूपको विकृति कहते हैं। इन्हीं दो रूपों से जगत् है। पूजाध्यानादि तो साकार का ही सम्भव है। देव स्वयं आकार सहित है अत: उसकी ही यथाविधि पूजा करनी चाहिए। अव्यक्त को जानना तो शरीरधारियों को लिए अतिकठिन काम है। इसलिए परमात्मा ने अपनी स्वेच्छासे उस रूप को दिखाया है। देवता लोग भी प्रादुर्भाव = अवतार आकार रूप में ही पूजा करते हैं। इसीलिए साकार की ही पूजा की जाती है उस आकार का हेतु है। उसको मैं बताता हूँ। सुनो।

विष्णुधर्म एवं विष्णुधर्मोत्तर ऐसे पुराण हैं जिनमें आलयपूजाका विशेष विस्तार से विर्णन है। अग्नि ६१.२५ में विग्रह को आत्मा कहा है। कूर्म पुराण में भी मूर्तिमान होकर मुनियों को देखने के लिए आनेकी बात है। अमूर्तोमूर्तिमान् भूत्वा मुनीन् दृष्टुमिहागत: २५.१.

भागवत पुराण में —

अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं तनुमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परोभवेत्। भाग. १०.३३.३७.

पुराण काल के किसी राजा का प्रासाद आजतक भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने नहीं खोज निकाला पर देव मन्दिरों के २००० वर्ष पुराने भग्नावशेष प्राप्त हैं। निश्चय ही मन्दिरों का निर्माण अधिक स्थायी स्वरूप को जताने के लिए किया जाता रहा होगा। राजा तो नश्वर और क्षणभङ्गुर है। राजराज का मन्दिर ही शाश्वतनिलय होना चाहिए।

दिव्यावदान में मन्दिर मूर्ति को मानसिक दक्षता प्राप्ति में उपकार के साधन माना है। बुद्ध की मूर्तियां बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बनने लग गयी थी।

हडप्पा में प्राप्त पुरातन अवशेषों में अनेक मूर्तियां तथा अर्चक की मूर्ति मिली है। निश्चय ही मूर्ति पूजा उससे बहुत प्राचीन होगी क्यों कि कला का ऐसा निखार और ऐसी पूर्णता बिना सुदीर्घ परम्परा के नहीं प्राप्त हो सक्ती। हडप्पाका काल प्रायः ५००० वर्ष पूर्व का मानते हैं। सिन्धु उपत्यका की संस्कृति में भी शिल्प, मूर्ति शिल्प कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऋग्वेद में इंद्र, वरुण की स्तुतियां दी हैं। विष्णु के ऋक् भी प्राप्त हैं। मूर्तियों की कल्पना पूर्व वैदिक काल में भी अवश्य रही होगी यद्यपि प्रधानतया यज्ञ करते थे।

कोनो के अनुसार हुविष्क के सिक्कों पर स्कन्द और विशाखा की मूर्ति अङ्कित्त है। खारवेल हाथीगुम्फा स्थित शिलालेखों से पता चलता है। कि केतु की एक प्रतिमा थी। यह शिलालेख १६१ ई.पू. का है आनन्दकुमारस्वामी के अनुसार स्वर्ण प्रतिमाओं का संस्कृत में सन्दर्भ प्राप्त है। इण्डियन इण्डोनेशियन आर्ट पृ.४३.)

ईसा की प्रथम शती के आते आते विग्रह (देव) की दिशा स्थिर हो गयी थी।

मूर्तित्वे परिकल्पितः शशभृतो वर्त्माऽपुनर्जन्मना
मात्मेत्यात्मविदां क्रतुश्च यजतां भर्तामरज्यौतिषाम् ॥
लोकानां प्रलयोद्भवस्थितिविभुश्चानेकधा यः श्रुतौ।
वाचं नः स ददात्वनेककिरणस्त्रैलोक्यदीपो रविः ॥
वाराहमिहिरकृत बृहज्जातक का मंगलश्लोक

त्रैलोक्यदीप रवि जिसकी मूर्ति की कल्पना करली गयी है - वे मूर्तियां है = १) चन्द्रमा जो शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष से मूर्तिमान है २) अपुनर्जन्मियों का जो मार्ग रूप है ३)आत्मविदों के लिए जो आत्मरूप है ४) यज्ञकरनेवालों केलिए जो भर्ता है, पति है ५) अमर ज्योतियों के लिए अर्थात् आकाशस्थित सदा प्रकाशमान प्रकाशपुञ्ज नक्षत्र तारागण आदि का जो भर्ता है, पति है ६) लोकों के लिए जो प्रलय उद्भवस्थिति का कारण है तथा ७) श्रुतियों में जिसको अनेकधा अनेक नामों से पुकारा गया है वह अनेककिरण रवि हमको शब्द दे, वाणी दे।

यहां मूर्तियां दी हैं। ये ऐसी मूर्तियां हैं जिनका चक्षुग्राह्य रूप नहीं है। इन रूपों की आवश्यकता पडती है। यहां यह स्मरणार्ह है कि ज्योतिष, विद्या को चक्षु कहा है।

शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी श्रोत्रमुक्तं निरुक्तं च कल्पः करौ
या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका पादपद्मद्वयं छन्द आद्यैर्बुधैः।

व्यकरणशास्त्रमुख है ज्योतिषशास्त्र दो नयन, निरुक्त शास्त्र कान, कल्पशास्त्र हाथ शिक्षाशास्त्र नासिका और छन्दस् शास्त्र पादद्वय हैं।

ये मूर्तियां काल के परिणाम हैं या परिणामकारक हैं अतः अरूप के रूप हैं।

यहां ध्यान देन की बात है वाराहमिहिर जो सूर्य के उपासक हैं और सूर्य की उपासना भारत में मूर्तिपूजा के रूप में सौर सम्प्रदाय के अन्तर्गत और आज भी स्मार्ताचार में पञ्चायतन पूजा में सूर्य की पूजा प्रायः लोग करते हैं।

यहां मूर्ति पद का प्रयोग मुख्यतः परिवर्तित परिस्थिति या परिवर्तनशील परिस्थितियों के कारक ऐसे अर्थ में प्रयुक्त है। उस परिवर्तननशील जगत् में जहां प्रतिक्षण समस्त दृश्य जात बदलता रहता है वहाँ मूर्ति दृढ प्रतिष्ठ स्थिर सत्त्वरूप में रहती है।

भास के नाटकों में मरणोपरान्त राजाओं (पुरखों) की मूर्तियों का वर्णन है।

भास का समय ईसा पूर्व या ईसा की प्रथम शती है। मृतराजाओं की मूर्ति बनाकर रखेन का अर्थ - १) नाटक तकनीक की दृष्टि से संकेत द्वारा मृत्यु समाचार देना २) सामाजि दृष्टि से मन्दिर की पूजा मूर्तियों का वंश के उत्तम वृद्धों का अन्तर तथा ३) मूर्तिकलाकी प्रगति -अर्थात् प्रथम शताब्दी में भी पत्थर से

मूर्तियों को तद्रूप या हूबहू बना सकते थे।

मूर्ति प्रतीक है। एक पशु या पक्षी पर आरूढ, हाथ में कमल, दिव्यायुध भूषण से अलंकृत। उस संहति को दिखाना इन प्रतीकों से प्रभु सर्वात्म है यह बताना इस प्रतीक का काम है। विश्व में व्याप्त प्रकृति-पुरुष का सम्मिश्रण है। सम्मिश्रण में एकता, अनन्यता, पाशविक, वानस्पतिक, भौमिक, द्रव्यात्मक पदार्थ सर्वत्र विद्यमान रहने वाला चैतन्य भी इस मूर्ति में है। पाशविक बल है। वनस्पति में पृथ्वी को फोडकर बाहर निकलने की जो विकास शक्ति है वह सृष्टि -शक्ति है। दिव्य तेज आत्मा या चैतन्य भी है।

जीव की जन्म या मृत्यु घटना आत्मा से सम्बधित नहीं है। यह तो प्रकृति में क्रियमाण परिवर्तन है।

मूर्ति में पशु वनस्पति तथा खनिजवस्तु का एक साथ सम्मिश्रण इन सारे तत्त्वों का संहति स्वरूप है। इस प्रतीक को अप्रबुद्ध भी समझ सकता है।

मृत्यु आत्मा का शरीर से सम्बन्ध विच्छेद है। शरीराधिष्ठित आत्मा ही इन्द्रिय ज्ञान का अवबोध कर सकती है। मृतावस्था में भौतिक तत्त्व के निष्क्रिय हो जाने पर भौतिक तत्त्व उत्पन्न इन्द्रिय कार्य-कारण सामर्थ्य अकार्यकारी हो जाता है। आत्मा के अजर - अमर होने का विश्वास सारे भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा ही वह तत्त्व है जो सारे विभिन्न इन्द्रियार्थों को समन्वित कर एक समय में एक ही प्रवृत्ति - निवृत्ति मूलक एक ही ज्ञान - चेष्टा उद्भूत करता है।

हिन्दु आत्मा को देही मानता है देह को आत्मा के अधीन मानता है। देह को क्षण भंगुर मानता है। आत्मा को नित्य मानता है। देह को आत्मा के अधीन मानता है पर पश्चिमीय दर्शन में मानव एक शरीर है जो आत्मा को धारण करता है। आत्मा मालिक के समान नहीं पर किरायेदार के समान है। जो मकान में रहता है जब खाली करने के लिए कहा जाय तब खाली करने के तैयार रहना पडता है। Brodov, V.; Indian Philosophy in Modern Times, Progress Publishers, 1984. P. 228.

मूर्ति की अपनी एक व्यक्तिगत सत्ता स्थापित हो गयी। मूर्ति अब केवल एक पत्थर का या काष्ठ का टुकडा न था। वह पूर्ण सत्त्वांश का, चैतन्यांश का प्रतिनिधि था। अनुग्रह करने का सामर्थ्य भी था। भोक्ता चैतन्यांश या प्रकृति अधिष्ठित पुरुष था या केवल प्रकृति ऐसे अनेक विकल्प सामने आये। अवतार

को प्राय: सभी सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है और अर्चावतार मूर्ति पूजा में कोई सम्बन्ध बैठाने तक सभी सम्प्रदाय इस मूर्ति पूजा में विश्वास करते हैं। और फिर देवत्वगुणों से साथ अनन्त कल्याणगुणगण इन मूर्तियों में आरोपित किए। गुणारोपण के साथ साथ अनुग्रह सामर्थ्य भी शक्ति सामर्थ्य के बढने से पूजा का भी विस्तार हुआ। अधिकजन अधिक पूजा करने लगे और अधिक माहात्म्य से अधिक सामर्थ्य और शक्ति इस तरह यह क्रम चलता ही रहा।

शायद जो जिन्दगी बीती है वह जीवन यात्रा का एक छोटा सा अंश है। अधिक लम्बे अर्से तक जीव को जीवन यापन करना है। शायद हजारों साल हजारों योनियों में। यह जीवन जो है जैसा है उसमें किसी प्रकार का रद्दो बदल नहीं किया सकता पर आगे की जिन्दगी तो सुखमय बनाई जा सकती है। अनेक उपायों में मूर्ति पूजा एक ऐसा उपाय है वर्णाश्रमाचार नित्य नैमित्तिक कर्म का पालन पुण्य कर्म है। देवताराधन भी एक ऐसा कर्म है। भविष्य जीवन के लिए उपादेय कार्य करने की एक वेदिका।

हिन्दू संस्कृति में मृत देहको चिता समर्पित कर दिया जाता है। आत्मा और देहका, नित्य और आनित्य का, कोई सम्बन्ध नही है ऐसा समझ कर, आत्मा नित्य है सदा जीनेवाला, शरीर अनित्य है - कर्मफल देहाभिमानी आत्मा को ही भोगना है।

पर अन्यत्र आत्मा और देह का सम्बन्ध इतना स्पष्ट नहीं है अत: मृतदेह के साथ सारा प्रसाधन सुखसुविधा के लिए सब कुछ मृत देह के साथ रखदिया जाता है। यहां तक कि अनेक पत्नियां मृत पति के शव के साथ रहने का अपना हक जताने केलिए आत्महत्या करती है। या मरने के लिए सामाजिक तौर पर प्रयत्न करती हैं। सिथिया जाति की स्त्रियों में यह प्रथा थी। पति के शव के साथ अपने शब को रखने के लिए परस्पर कलह, मारपीट, षडयन्त्र की नौबत आती थी।

मृत देहका सौविध्य इतना महत्त्वपूर्ण था मृतात्मा की सुविधा के लिए अनेक दासों की हत्या की जाती थी जो मृत नृपति की सेवा टहल कर सकें। मकबरे या छतरी पिरामिड या शवगृह इतने विशाल बनाये जाते कि साधारण सांसारिक स्तर के ऊपर हों। अर्थात् मृत्युपरवर्ती जीवन-जीवित, जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण है। शायद शवगृहवास अनन्त जीवन है जब कि जीवित जीवन अल्प कालिक।

मूर्ति ध्यान का साध्य भी है साधन भी।

गीता में अर्जुन ने कहा —

'चञ्चलं हि मनः कृष्ण' मन बडा चञ्चल है। ६.३४. अतः ध्यान करना बडा कठिन काम है। तब कृष्ण ने कहा —

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। ६.३५.

अभ्यास और वैराग्य से मन को स्थिर किया जा सकता है और मन स्थिर होने पर ध्यान।

भगवान की चल और अचल दोनों प्रकार की मूर्तियां हैं। ध्रुव और चल सकल निष्कल पद पाञ्चरात्र तथा वैखानस दोनों सम्प्रदायों में प्रचलित है। अचलं चलमिति द्विविधं भगवतोरूपम्। तत्र सर्वगं व्योमाभमपोहलक्षणं ब्रह्माद्यैरप्यनभिलक्ष्यं निष्कलमचलम्। तदाराधनं निरालम्बं तत्स्थानीयं ध्रुवरूपम्। तस्मादचलात्मनो यद्भिन्नं सर्वदेवात्मकं मत्स्याद्यंशजनकं सकलं तच्चलम्। तदाराधनं सालम्बं तत्स्थानीयं कौतुकम्। तस्मात्महाबेरे दोषेऽपि कौतुकसम्पदा नश्यति। ध्रुवबेरं परं ज्योतिरूपं तदलक्षणमपि न दोषाय भवति, अरूपत्वात्। काश्यपज्ञान काण्ड. पृ. ९६.

यदा निष्कलं सूक्ष्मं परं ज्योतिर्नारायण इति च कीर्त्यते तदा स्थूलः सकलः तदा विष्णुरिति। विष्णुः सुवर्णवर्णः रक्तास्यपाणि पादाक्षः शुक पिञ्छाम्बरधरः किरीटकेयूरहार प्रलम्बकटिसूत्रोज्वलितः शंखचक्रधरः श्रीवत्साङ्को रक्तत्रयसमन्वितः सुवर्णरजतताम्रारुकणामन्यतमेन सलक्षणमेव कौतुकं कारयेत्। अलक्षणे तु तत्सर्वं भस्मसात् भवति सकलत्वात् तस्य। काश्यपज्ञानकाण्ड. ९६-९७.

त्रिक सम्प्रदायमें भी --

अचल मूर्ति सर्वत्र है। अर्थात् सर्वव्यापी है। आकाश की तरह उसका दर्शन नहीं हो सकता। क्यों कि रूप से परे है। जब रूप नहीं है ते मूर्ति भी नहीं है। जब मूर्ति नहीं है पूजा भी नहीं है। इसीलिए जीव से यह भिन्न है। चल मूर्ति ही अवतार आदि के कारण हैं। इसीलिए पूजा भी इसी की हो सकती है। फिर ध्रुव तथा कौतुक बेर भेद से चल अचल ऐसा भेद प्राप्त है। निष्कल की पूजा तो श्रेष्ठ आश्रम के लिए या तुरीय आश्रम के लिए ही है। अन्य के लिए तो सकल ही आराध्य है। सालम्बं सम्यक् संसारनिष्ठानां भुक्तिमुक्तिफलप्रदत्वात् . . . . सालम्बाराधने कौतुक सम्पत् सर्वेषां सम्पदिति विज्ञायते। काश्यपज्ञानकाण्ड.९७.

सर्वमंगलकारित्वात् कौतुकं ह्यभिधीयते । अत्रि २४.२

नारायण तो निष्कल और सर्वव्यापक है ।

मौसल पर्व के पांचवे अध्याय में अर्चावतार की एक कथा दी है। भगवान श्रीकृष्ण जब मानव देह का परित्याग करने लगे तो ब्रह्मा को अपना निजरूप दिखाया - चतुर्भुज। सूर्य मण्डल को भेद कर दिव्य तेज वैकुण्ठ में पंहुचा। वहां पर यह तेज पाषाणमय मूर्ति रूप में ब्रह्मर्षियों के सन्मुख उपस्थित हुआ। प्रतिज्ञा की कि इसी देह से पृथ्वी पर अवतरित होंगे। बाह्यरूप से देखने पर निष्प्राण और प्रस्तरमय पर अन्दर से करुणासागर एवं दयासमुद्र विरुद्ध स्वभाव का एकत्रनिवास सम्पूर्ण सामर्थ्य से युत पर उसी रूप से पृथ्वी पर वास करेंगे।

जब मेघजल हिमशिला में परिवर्तित हो सकता है तो दिव्यतेज प्रस्तरखण्ड में क्यों नहीं? दयाद्रता एक मौलिक गुण है। विष्णुसहस्रनाम में नामों में अव्ययः पिता १० कहा है। और पिता तो कालकवलित हो सकते हैं। पर विष्णु तो अव्यय पिता हैं। सदा सदा रहनेवाले।

विष्णुसहस्रनाम में —

विश्वमूर्तिर्महामूर्ति दीप्तमूतिरमूर्तिमान् ।

अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः ॥ १०

अनेक मूर्तियों का जिक्र किया है। शतानन और शतमूर्ति भी है उसमें अव्यक्त मूर्ति और अमूर्तिमान् भी है। अमूर्तिमान भी एक रूप है। मनु ने पञ्चभूतों को पञ्च मूर्तयः कहा है। विश्वतश्चक्षुर्विश्वतोमुखांघ्रिहस्तं विश्वात्मकं विश्वगर्भं विश्ववेतृ विश्वेन्द्रियगुणाभासं विश्वेन्द्रियविवर्जितमनादिनिधनं व्योमाभं यत् ज्ञातृज्ञेयज्ञानविहीनं ज्ञानधनं तदेव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यावस्थात्मकं बहिः प्रज्ञान्तः प्रज्ञ-प्राज्ञावस्थाया वैश्वानरतेजसहृदयाकाशरूपेण स्थूलं प्रविभक्तमानन्दं भुञ्जानं ब्रह्मतुरीयं चतुष्पादमामनन्ति। तदेवब्रह्मसत्वोत्कर्षनिकर्षाभ्यां प्राणिषु चतुर्धा भिद्यते सत्त्वतः पादतोऽर्धतास्त्रिपादात्केवलाच्च । धर्मज्ञानैश्वर्यवैराग्यविषयाश्चतस्रो मूर्तयस्त्विमाः काश्यपज्ञानकाण्ड पृ. ६५.

कृत्वा यः प्रतिमां विष्णोः यथा लक्षणमादरात् ।

संस्थाप्य तां तु विधिना देवागारेऽथ वेश्मनि ॥

नित्यमाराधनं भक्त्या सा पूजा बेरपूजनम् । भृगु खिलाधिकार १.२६.

देवप्रासाद और देवमूर्ति बनानेवाले भारतीय स्थपतियों ने एक सौन्दर्य

बोध की परम्परा ही चालू कर दी। देवालय की सुन्दरता कहीं कहीं देखते ही बनती है जैस दिलवारे का जैन मन्दिर। मूर्तियों की सुन्दरता तथा मन्दिर के अनेक अवयवों पर तराशी गयी कलाकृतियां अत्यन्त मनोहर एवं हृदयाकर्षक बन पडी हैं भक्तों को अनचाहे ही सौन्दर्यलहरी में डुबो देती हैं। रसाप्लुत मन और चित्त रसास्वाद परवश हो जाते है भक्ति रस। अभीक्ष्णदर्शनात् परिचर्यया भक्तिर्भवति काश्यप ज्ञानकाण्ड. पृ.९७.

पुरोहित द्वारा उच्चरित मन्त्रों से पृथक् स्थपति द्वारा मूर्ति विन्यास किसी भी प्रकार अन्य कोटि का नहीं है। धर्म और दर्शन अलग अलग देखने की प्रथा भारत में नहीं है। विभुता में जड जीव और ईश्वर सब शामिल है। हमारा धर्म सर्वतोमुख है। एकांगी नहीं। सर्वार्थता इसका प्रधान अभिधेय है। शब्दग्राह्य या मन्त्रग्राह्य रूप में और शिल्पी द्वारा निर्मित या प्रस्तुत रूप में कोई अन्तर नहीं है। कुमारिल ने साधुशब्दाधिकरण में सगुण ईश्वर की पूजा को स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है। शंकर ने भी। १.१.४ पर 'तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षफलं भविष्यति' कहा है।

मूर्ति उस प्रक्रिया का प्रतीक है जो संसार की सृष्टि के मूल तत्त्व को खोजती है। जैसे अव्याकृत प्रस्तरखण्ड में से एक सुन्दर मूर्ति उद्भूत होती है वैसे ही यह नानाविध दृश्यमान संसार भी निश्चय ही किसी अव्यक्त मूल से पैदा हुआ होगा यह ज्ञान परिलक्षित होता है। यह मूल तत्त्व नारायण है। अनेकता से ऊपर उठकर सारे संसार में व्याप्त बहुविधता में अनेक स्तरों पर एकता खोजना यही धार्मिक तत्त्व या अध्यवसाय है। संसार वृक्षका बीज वही नारायण है। वही अश्वत्थ है जिसके शाखा प्रशाखा एकमूल में स्थिर है। विश्वकर्मा जिसको साधारण बोलचाल में कारीगर मजदूरों का देवता समझते हैं वही विश्वको बनानेवाला स्थपति है, कारीगर है। इसीलिए वैष्णव धर्मो में जहां शिला मूल उपादान उससे उद्भूत मूर्ति और उसको निर्माण करनेवाला कारीगर, स्थपति या ब्रह्मा पूजा के पात्र है, पूज्य हैं।

कारण के अन्दर कार्य का होना सभी मानते हैं; क्यों कि नारायण ही समस्त कारणों के कारण हैं, अतः वह सर्वव्यापी है। मूर्ति एक धार्मिक प्रतीक है। यह प्रतीक - द्रव्य दारु प्रस्तर आदि गत भौतिकता मिटाकर जिस परमतत्त्व का

बोध कराता है उससे एक एवं अनन्य हो जाता है। प्रस्तर का एवं तद्द्वारा व्यक्त परतत्त्व का भेद मिट जाता है। क्यों कि भक्त मूर्ति को हो परमात्मा समझने लगता है। परमतत्त्व का मूर्ति द्वारा दृश्यमान रूप सांसरिक अवस्था में प्रतीयमान नित्य शाश्वत रूप है। यह रामकृष्ण जैसा अवतार नहीं है पर अर्चावतार है, एतावता लोकोत्तर परमसत् कुछ है उस विश्वास में कोई अन्तर नहीं पडता। यह एक व्यक्तिगत समाजनिरपेक्ष अनुभव नहीं है। यह तो सामाजिक अवचेतना को प्रबुद्ध करने वाला एक प्रतीक है जो उस समाज के सभी व्यक्तियों को एक लोकोत्तर अनुभव प्रदान करता है। संसार में दृश्यमान जितना भी सत्तामय वस्तुजगत् है उससे अधिक सत्तावान शक्तिशाली एक पदार्थ है ऐसा भान कराने में यह प्रतीक प्रस्तर मूर्ति सक्षम और सशक्त है। इस लोक में लोकोत्तर शक्ति का सत्ता के अतिरिक्त लोक से उठ कर एक लोकोत्तर शक्ति है इस विश्वास के प्रबुद्ध करता है। यह लोकोत्तर शक्ति होते हुए भी लोक मे स्थित है।

प्रतीकों की प्रतीकात्मकता व्यक्तिगतजीव के अनुभव का साक्षी नही हैं। ये तो समाजगत सामूहिक अनुभव के प्रतिफल हैं इसी कारण उस प्रतीक का तत्तत् समाज में अधिक प्रयोग है। प्रतीककी बोधगम्यता या अर्थ का प्रत्याख्यान शब्देतर माध्यम से अधिक सशक्त से होता है क्यों कि सामाजिक चैतन्यकी अवचेतनावस्था से जुडा है। यह प्रतीक और उसका अर्थ -प्रत्यय साक्षात् होता है किसी अन्य माध्यम से नहीं या वृत्ति द्वारा नहीं। ये प्रतीक सत् की गहराइयों का अनुभनव कराते हैं जो अन्य माध्यम (लौकिक) से सम्भव नहीं है।

अद्वैत वेदान्त में व्यावहारिक सत्य एवं पारमार्थिक सत्य ऐसी दो कोटियां मानी गयी हैं। अर्थात् सत्य की दो कोटियां एक सत् दूसरा अधिक सत्। इस अधिक सत् का ज्ञान हम को लौकिक स्तर पर नहीं होता। तब जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब हम लोकोत्तर जीवन जीते हैं लोकोत्तर अनुभव का अनुभव करते हैं। यही आध्यात्म क्षेत्र में ऊर्ध्व गमन की दिशा है अत: उस लोकोत्तर अनुभव को लोक में रहकर, सांसारिक परिवेश में रह कर अतिसांसारिक चैतन्यावस्था से इन्कार नहीं किया जा सकता यह सबका अनुभव हैं। जब भगवान की मूर्ति का दर्शन करते हैं तो इस दर्शन के दो पहलू हैं १) भौतिक २) अतिभौतिक। भौतिक स्तर में सामने स्थित भगवान मूर्ति का दर्शन करते हैं। मूर्ति दारुमयी हो सकती है शिलामयी या रजतमयी भी पर उपादान निरपेक्ष दर्शनोत्तर जो अनुभव होता है वह समान है।

अर्थात् मूर्ति वह प्रतीक है जो समान अर्थ प्रतिपादित करते हैं। उपादान जो भी हो अर्थ वही प्रकटित होता है, क्यों कि दृष्टा एक ही है। दर्शन क्रिया में तब वस्तुनिष्ठ (उपादान) सत् नहीं वरन् स्वनिष्ठतत्त्व का ही दर्शन होता है। मूर्ति तब वह प्रतीक है जो स्वनिष्ठ चैतन्य को ही कर्ता - कर्म की संज्ञा से ऊपर उठाकर दृष्टा और दृश्य का भेद मिटा देता है।

दूसरा स्तर है प्रतीक द्वारा अभिधेय का। ईश्वरके वे गुण - अनन्त-कल्याणगुण प्रतिबोधित होते हैं। सर्वव्यापी ईश्वर निश्चय ही दृश्य नहीं हो सकता क्यों कि मानव के इन्दियों की एक मर्यादा है, और उससे ऊपर इन्द्रियां नहीं उठ सकती, पर भगवद्गुणों का ज्ञान होता है इस प्रतीक द्वारा। सांसारिक अर्थ में अतिसांसारिक बोध यह प्रतीक का काम है।

जब ये मूर्तियां प्रतीक मात्र हैं तब अपने आप में इतनी पूज्य कैसै ? क्या मूर्ति के अन्दर प्रतीकात्मकता से अधिक कुछ है ? हाँ है, ऐसा मानना पडेगा। जैसे राजपुरुष राजा का प्रतिनिधि होता है अत: राजा के जितने भी गुण है शक्ति, क्षमता, सामर्थ्य आदि उस व्यक्ति में संक्रमित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार मूर्ति में भी जो भगवान का प्रतीक है सारे गुण आजाते हैं। यहां गुण आजाने का अर्थ वस्त्वन्तर में परिणमित होना नहीं है पर प्रतीकात्मक सामर्थ्य इतना बलशाली है कि उस मूर्ति में उन सभी गुणों को स्थापित करने का सामर्थ्य रहता है अत: दर्शक को प्रतिभासित होते हैं।

चिह्न और प्रतीक का अन्तर समझलेना चाहिए। चिह्न किसी पदार्थ की वास्तविकता या तथ्य के बारे में प्रत्याख्यान नहीं करते जब कि प्रतीक में प्रतिनिधि करनेवाले पदार्थ के गुण भी बताता है। जैसे भगवान की मूर्ति जो केवल एक प्रतीक मात्र है भगवद्गुणों को भी बताता है। गीता वचन है — 'अक्षराणामकारोस्मि' यहाँ 'अ'कार सभी पदों से या अक्षरों में विहित है पर इसका शब्दार्थ में किसी प्रकार का योग नहीं है पर एक पताका जोकि राज्य का प्रतीक है राजा के बल प्रताप का आख्यान भी करता है। कर्मकाण्ड के प्रयोग ग्रन्थों में केवल प्रतीक मात्र दिये जाते हैं जैसे 'देवेशं शयने शेत' यहाँ शयने पूरे मन्त्र का प्रतीक भर है यह प्रतीक सत् के उस लोकोत्तर अर्थ का प्रत्यभिज्ञान कराते हैं जो सांसारिक परिवेश में सम्भव नहीं है।

प्रतीक स्वेतर किसी अन्यवस्तु या सन्देश का बोध कराते हैं। सडक पर

लालवत्ती का अर्थ है कि राजपथ अवरुद्ध है। मार्गावरोधक संकेत उस लालबत्ती के संकेत से प्राप्त है। यह भाषा वृत्तियों में चाहे लक्षणावृत्ति हो या व्यञ्जना वृति सम्भव नहीं है। शब्दों की अर्थ प्रतिपत्तिप्रक्रिया में प्रतीक की तुलना में कितना कम सामर्थ्य है यह तो वृत्तिविशेषज्ञ ही बता सकते हैं। हां प्रातिनिध्य को दूरतर व्यापार से अभिहित करने के बजाय क्यों नहीं मूलपदार्थ का ही उपयोग किया जाता है? मूलपदार्थ का प्रयोग सम्भव नहीं है। मूर्ति के स्थान पर साक्षात् भगवान को लाकर खडा करना सम्भव नहीं है। अधिकारी का प्रश्न भारतीय परम्परा में बहुचर्चित तथा बहलप्रयोग में है। सबको ईश्वर का दर्शन सम्भव नहीं है अतः प्रतीक का प्रयोग करते हैं जो आध्यात्मिक परत खोलने में सक्षम है और इस सुलझे अनुभव के कारण ही इसको भगवान के परम सत् होने का या सत् चित् आनन्द होने का ज्ञान होता है यह ज्ञान है या अनुभूति इस दार्शनिक मत वैभिन्य को प्रदर्शित कर सकते है, पर मूल सत् का बोध इन्हीं क्षणों में होता है, और इसी अनुभव प्रकाश से ही हम ईश्वर को सर्वव्यापक, लोकाधार या अनन्त कहते हैं। दिग्देशकाल से अपरिच्छद्य मानव द्वारा शंसित अति उदात्त गुणों का प्रेम या करुणा का उपरितम आश्रय मानते हैं। उस प्रकार करुणामय या दयासागर नाम अनेक सम्प्रदायों में भगवान के नामों में शामिल हैं। भारतीय परिवेश में भक्तवत्सल नाम भी शरणागति तत्त्व को बताने वाला है सच्चा प्रतीक अनन्त के रहस्यों के परतों को खोलने एवं रहस्यों को समझने के लिए आवश्यक मानव बुद्धि वैचक्षण्य को आत्मानुभूति के सक्षम बनाता है।

जब परम सत् की दो या दो से अधिक कोटियां (निष्कल- सकल) मानी गयी हैं तो निश्चय ही उस तत्त्व के बोधानुकूल भाषा का प्रयोग करना पडेगा - बोधगम्यता के लिए अतः जिस क्षेत्र में व्यावहारिक भाषा निरुद्धप्रसर हो जाती है वहां पर अधिक सशक्त प्रतीक भाषा का प्रयोग उपयुक्ततर होता है। कबीर की उलटबांसियां इसी के निदर्शन हैं। क्योंकि व्यावहारिक भाषा जिसका कि हम प्रायः प्रयोग करते है वह व्यवहार के कार्य जाल को बताने केलिए ही सक्षम है और उससे अधिक गम्भीर अर्थ नहीं बता सकती।

१५ वें अध्याय में आनन्दसंहिता में --

तस्मात्तेषां विमुक्त्यर्थं सर्वलोकानुकम्पया ॥१२॥
अर्चावताररूपेण लोकेस्मिंश्चतनुरान

अवतारं करिष्यामि भूम्यालक्ष्म्या समन्वितः ॥१३॥

जो अमूर्त है उसका मूर्त हो जाना मूर्ति है। वह तो चिन्मय है। यह चित् ही रूप धारण कर लेती है। क्या चित् मूर्ति रूप में संकुचित है जाती है ? अनन्त अनन्त ही रहता है न्यूनता नहीं आती जैसे कूर्म अपनी सारी पादादि समष्टि को अन्दर खींच लेता है वैसे ही बाहर भी कर सकता है। शायद इन्द्रियों का बाहर की ओर जाना अधिक भी हो। उस दशा में मूर्ति के सामने रहने पर ध्यान की दिशा तीव्र हो जाती है। यह मूर्ति के माध्यम का परिणाम होगा।

विग्रह पद भी बहल प्रयोग में है। विग्रह (वि + ग्रह) धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है ग्रहण करना अपनी ओर आकर्षित करना विग्रह तब वह यन्त्र है जिस के माध्यम में आत्म -परमात्म मिलन में सहायता मिलती है जैसे घिर्री से कुएं के पानी को बाहर निकालने में आसानी होती है। निश्चय ही तब मूर्ति इन्द्रियों के संकेन्द्रीकरण का एक मार्ग है जो सर्वव्यापक परमात्म से मिलन का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

चुम्बकीय शक्ति के समान भक्ति की शक्ति भी सम्पर्क होने पर अपनी ओर आकर्षित करती है। इस दृष्टिसे मूर्ति का अवदान एक यन्त्र के समान है और इसी लिए मूर्ति को त्रुटि रहित होने की बारबार हिदायत देते हैं। जैसे यन्त्र में किसी भी प्रकार की त्रुटि आजाने पर यन्त्र काम नहीं करते ऐसे ही मूर्ति भी। सच्चिदानन्द घन के प्रति हृदय आवर्तन की दैवीय प्रक्रिया - 'भ्रामयन सर्वभूतानि चक्रारूढानि मायया' जैसे मनुष्य कार में बैठकर बिना चले भी गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है। गाडी को तो ड्राइवर ही चलाता है। भगवान ने गीता में कहा है — दिव्यं ददामि ते चक्षुः। मूर्ति तो साक्षात् अवतार ही है जैसे कृष्ण ने अर्जुन को चर्म चक्षुओं के स्थान पर दिव्य चक्षु प्रदान किये वैसे ही मूर्ति के सान्निध्य में अन्तरतम के चक्षु खुल जाते है जिससे दिव्य दर्शन सुकर हो जाता है। मूर्ति भी तो अर्चावतार है न।

जीवो ब्रह्मैव नापरः जीव ब्रह्म का ही अंश है। उस अंश का परमांश में मिलना स्वाभविक ही है। जैसे घट के भग्न होने पर घटाकाश सर्व व्यापक आकाश से मिल जाता है। मूर्ति दर्शन से अहं का संकोच होता है और देहादि स्थूल सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति क्षीण हो जाती है। मूर्ति का यही काम है। सांसारिक प्रवृत्तियों को क्षीण बल करना। क्षीण बल होने से चैतन्यांश क्रमशः प्रबलतर होता है जिससे ऊर्ध्व पथ की यात्रा सुकर होती है।

मानव देह में विगडित होने का नाम ही मानवता है। इस मानव देह से मुक्ति का नाम ही मोक्ष है। इस मानव देह का संस्कार परिमार्जन से सम्भव है। यदि मानव देह में पाप कर्म किये है तो पशु आदि योनियों में जन्म होगा। पशु आदि योनियों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। आत्म संस्कार की प्रक्रिया का बोध नहीं है। तब आत्मा शुद्ध बुद्ध चैतन्यांश क्या मलिन हो जाती है? नहीं आत्मा का स्वरूप नहीं बदलता है। बोतल की मदिरा वही है पर बाहर का पैकेट बदला है आत्मा शुद्ध-बुद्ध ही है। पर देह आत्मा का सम्बन्ध बदल जाता है। मानव देह में बद्ध या आवृत होने का बजाय पशु देह में आवृत होने पर पशु सम्बंधी संस्कार प्रबुद्ध होते हैं। तदनुकूल आचारण करने की प्रवृत्ति दृढमूल होती है। आत्मा के परमात्मा मिलन के प्रति आग्रह, प्रयत्न शिथिल हो जाता है और फिर क्रमश: आध्यात्मिक स्पन्दन भी लुप्त हो जाता है।

मूर्ति जो प्रबुद्ध है उन लोगों केलिए तो उपकारक है ही है पर उन लोगों केलिए भी उपकारक है जो मन्दमति हैं। उनकी प्रवृति न तो अच्छे काम में है न तो बुरे काम में। मूर्ति का दर्शन उनको प्रबुद्ध कर सकता है मानव मुख्य ध्येय की ओर अर्थात् आत्मा परमात्मा के मिलन की ओर मतिमान्द्य स्वल्प हो कर आत्मा को निर्मल करने की स्पृहा तीव्रतर प्रखरतर होती है और अन्तत: मूल तत्त्व की ओर बढने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। और ईश्विर मिलन के प्रति किया गया कोई भी प्रयत्न श्रेयस्कर है। वही मानव की नियति है।

मूर्ति हमारे दृष्टिकोण का दर्शन है। संसार मिथ्या है। आत्मा परमात्मा मिलन हमारे जीवन का परमलक्ष्य है। इस दृष्टिकोण से मूर्ति का दर्शन करने पर मूर्ति एक संकुचित शिलाखण्ड नहीं है। मानव की आध्यात्मिक चेतना का मूर्त रूप है। चरम तत्त्व का आकार है। यह मूर्ति सम्पर्क हमारे सुप्त चेतना केन्द्रों को जाग्रत कर अतीन्द्रिय ज्ञान की झलक प्रस्तुत करते हैं। जो हमें मोक्ष पथगामी बनाता है।

मोक्षपथ गामी होने का क्या अर्थ है? मूल्यों का स्थिरीकरण तदनुकूल आचरण क्रम बद्ध करना। जो कार्य हमको मोक्ष के जितने समीप ले जाय उसको उतना महत्त्वपूर्ण समझना। उतना श्रेष्ठ समझना इस क्रम बद्धता से जीवन में एक नई दिशा का अभ्युदय होता है। तदनुकूल आचरण की प्रवृत्ति। और देहपात तक सत्पथगामी मूर्ति इस दिशा में यात्रा का अवलम्ब है मापक और पाथेय। मूर्ति तब

वह दीपक स्तम्भ है जो अन्धकार में न केवल मार्ग प्रदर्शन करता है पर प्रकाश पुञ्ज भी प्रकीर्ण करता है।

प्रकाश पुञ्ज का अर्थ है प्रकाशित मार्ग इस संसार में रहते हुए मोक्ष की ओर अग्रसर होना। सांसारिक कृत्यों की अपरिहार्यता को मानते हुए सत्पथगामी होना। नीतिनियम् की आचार संहिता का प्रयोग। जैसे आकाश दीप अन्धकारपूर्ण निशा में गहरे समुद्रजल में गन्तव्य स्थान की ओर ही मार्ग प्रशस्त कर प्रदर्शित करता है दिशा संकेत द्वारा उसी प्रकार मूर्ति भी उस परम पथ की ओर दिशा निर्देश करती है जहां का जीव पथ गामी बनता है। मूर्तियां पांच है - ध्रुव, कैतुक, उत्सव, स्नपन और बलिबेर। कहीं पर तीर्थ भी छठी मूर्ति के रूप में। ध्रुवबेर पांच वस्तुओं का हो सकता है। शैलजं रत्नजं धातुज दारु तथा मृण्मय - अथ वक्ष्ये त्रिशेषेण बेरलक्षण- मुत्तमम्। शैलजं रत्नजं चैव धातुजं दारवं तथा। मृण्मयं स्यात्तथैवेति पञ्चधा बेरमुच्यते प्रकीर्णाधिकार ७. श्लोक.१२-१३.

शैलज चार प्रकार के - रत्नज सात प्रकार के धातु आठ प्रकार के हैं। रौप्यं तथा ताम्रं कास्यं चैवारकूटकम् आयसं सीसकं चैव त्रपुकं चैव धातुजम् दारु - षोडश विध। मृण्मय - दो प्रकार कच्ची मिट्टी पकी मिट्टी मृदाकृत्वाग्निनादग्धंयत्तत् प्रक्कमितीरितम्।

मोक्षार्थि शैलजं कुर्यात् समूर्तार्चन १८.२. जिस प्रकार की स्पृहा हो उस उपादान को मूर्ति बनाने के लिए चुना जा सकता है।

अवस्थान तीन प्रकार का है स्थानकं चासनं चैव शयनं। स्थानक योग भोग विरह तथा बीर चार प्रकार का है। आसन तीन प्रकार का योग भोग वीर काश्यप ज्ञानकाण्ड योग सुख भोग बीर इस प्रकार चार मानता है शयन भी योग भोग वीर तीन प्रकार का है

ऐहिकामुष्मिकापेक्षी - ध्रुव कौतुकसंयुक्तम्। केवलामुष्मिकापेक्षी ध्रुवार्चन कुर्यात्॥ काश्यपज्ञान काण्ड पृ.९५.

ध्रुव - **बेर** तीन प्रकार का है। चित्र, चित्रार्धक तथा चित्राभास। चित्र उत्तम, **अर्धचित्र** - मध्यम और आभास - अधम है। ध्रुवबेर - इष्टमानं विनिश्चित्य **पादाद्युष्णीषान्तं ध्रुवबे**रं कारयेत्। ध्रुव बेर पादसे लगाकर उष्णीषान्त होना चाहिए। **नाप - जोड़ स्थिर करके** ही मूर्ति बनावे। आभास - दो प्रकार का है १. अचल **और २. चल. अचल जो** दीवाल पर चित्रित हो और चल जो वस्त्र पर तदाभासं

द्विविधं भवति। चलं चलमिति। अचलं भित्तौ लिखितं, चलं पटलिखितं स्यात्।

उत्सव मूर्तिः उत्सव मूर्ति का वैखानस सम्प्रदाय मे बडा महत्त्व है। प्रभु की परम कृपालुता का निदर्शन है। जो मानव देहादि द्वारा अशक्त होने पर मन्दिर स्वयं जाने में असमर्थ हैं उनके पास स्वयं भगवान जाते है। पिल्लै लोकाचार्य का तो कहना है भगवदंश मूर्ति रूप में अशक्त लोगों पर अनुग्रह प्रसादित करने के लिए ही अवतरित होते हैं। अतः मूर्ति भगवान के अनुग्रह करने की एक शैली है।

मोक्ष पर सबको समान अधिकार है। देहशैथिल्य अंग वैकल्य वर्णगत असौविध्यके कारण यदि कोई मन्दिर तक नहीं जा सकता तो अर्चावतार - उत्सव विग्रह उसके मोक्ष प्राप्ति के मूल अधिकार की स्वयं जाकर रक्षा करते हैं। निर्बल के बल राम प्रसिद्ध ही है।

प्रत्येक व्यक्ति का अवबोध सामर्थ्य उसके बुद्धि विकास पर निर्भर करता है। अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः। अव्युत्पन्न भी मूर्ति को देखकर भगवान का भक्त बनेगा। अपनी नियति का उद्धारक होगा। आत्मा पर अपने स्वयं उद्धार का कारक और कारण होगा पर अपने अपने व्यक्तिगत प्रयत्न और सामर्थ्य के अनुकूल। मुकुर का कान्ति प्रतिफलन उसकी स्वच्छता पर निर्भर करता है।

चित्त की अवस्थाओं का नाम वृत्ति है। ये वृत्तियां हमारे आन्तरिक अनुभव को बताती हैं। क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, प्रमूढ आदि। निद्रावस्था में इन्द्रियां काम नहीं करती। चैतन्य रहता है। जब मनुष्य देव प्रतिमा के सामने खडा होता है तो उसकी वृत्तियाँ काम नहीं करती (बहिर्मुख होकर) होता है अतः वृत्ति ज्ञान नहीं होता। तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मूर्ति में — १. संवेदनजन्य रूप रहता है जैसे कविता में रजनी का कामिनी रूप, मलयानिल का मित्र रूप।

२. मानववृत्ति में होने के कारण मानवीकृत रूप देखने को मिलता है। उसका प्रभाव व्यापक रूप से उपबृंहित आत्मीयता है। ईश्वर की सर्वव्यापकता के कारण मानव प्रकृति स्थित प्रत्येक वस्तु से, पदार्थ से विचार विनिमय कर सकता है।

३. प्राणप्रतिष्ठा किये जाने के कारण ऐसा विश्वास और दृढ होता है। और मन्दिर में उपस्थित देवता के सामने होने पर भक्त सत्त्ववृत्ति प्रधान हो जाता है ऐसा विश्वास जागृत होता है।

४. वैष्णव सम्प्रदाय में तो भगवत् प्रतिज्ञा - सकृदेव प्रपन्नाय 'तवास्मीति' याचते ऐसा कहने पर भगवान उसकी रक्षा स्वयं करते हैं।

५. मन्दिर भगवान का दरबार है। घर भी है। और आफिस कार्यालय भी। वहां रहते भी हैं और वहीं से लोककल्याण भी करते हैं। आफिस टाइम का झंझट नहीं है। आठ घण्टे काम करने की बाध्यता भी नहीं है। अर्थात् अर्चा विग्रह सबकी सब समय सुनते हैं उनकी प्रार्थना के अनुकूल विचार करते हैं। इसीलिए बालाजी के मन्दिर के महन्त का पद नाम विचारणकर्ता था। अर्चा पद मूर्ति एवं पूजा दोनों अर्थो में प्रयुक्त है।

६. एकाग्रता - मन की वृत्ति है। भक्त दर्शनर्थी जब घर से दर्शन के लिए चलता है, तो चेतन मन दर्शन केलिए तैयार होकर चलता है। फिर मार्ग में चलने की क्रिया में लिप्त हो जाता है। देव मूर्ति के सामने पहुँचते पहुँचते उसका अवचेतन मन इतना प्रबृद्ध हो जाता है कि सचेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन अधिक सन्नद्ध रहता है। अत: मूर्तिके सामने हाथ जोडकर, आँख मूंदकर खडा हो जाता है। बाह्य जगत को भूल जाता है। पार्श्व परिसर का उसे ज्ञान नहीं होता अत: मूर्ति के आगे अपने आत्मोद्गार प्रस्तुत करता है। मेरी रक्षा करो ऐसी याचना करता है और आश्वस्त होकर लौटता है। याचना कर्ण कुहर ग्राह्य हो यह आवश्यक नहीं। मानसिक रूप से प्रोक्त भी भगवान सुन लेता है। यह अवचेतन मन वृत्ति ज्ञान शून्य चित्त सब सम्भव करा देता है।

एकाग्रता तब इसकी कुञ्जी है। इच्छाशक्ति क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति ये तीनों शक्तियां प्रसिद्ध ही हैं। इच्छाशक्ति ही अवचेतन को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। और फल परिणति सुनिश्चित।

भारत आध्यात्मिक अनुभव की स्वत: प्रामाणिकता स्वीकार करता है। उसे प्रमाणान्तर से पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

कालचक्र या ॠतु चक्र से सभी लोग परिचित हैं। एक विश्वात्मा है। भूतों के अन्दर बाहर रहता है और उससे बाहर विश्व व्यापी हो उससे अधिक व्यापक रूप से रहता है। गीता में ११.२७ वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति मानव नियति वापस उसी परमतत्त्व में मिल जाती है। जहां से सारा जागतिक प्रपञ्च उद्भूत हुआ है। जंगल में पेड स्वयं उत्पन्न होते हैं और कालचक्रपूर्ण होने पर स्वयं नष्ट हो जाते हैं केन्द्र बिन्दु वही है। परिधि की ओर से केन्द्र की ओर जाने का नाम ही कर्म

है। वृत्त या चक्र कई हैं पर केन्द्र बिन्दु एक ही है। बाहर की परिधि से अन्दर की परिधिमें जाना ही आध्यात्मिक कार्य है। यह कैसे सम्भव है? आत्म संस्कार से, दीक्षा से, सतत प्रयत्न से, निरन्तर जरामरण से मोक्ष पाना ही मोक्ष है। सर्व व्यापी परमात्मा के 'भ्रामयन् सर्वभूतानि चक्रारूढानि मायया' के परमसत्य को नहीं पहचान लेता। भौतिक संसार से देह इन्द्रियों से मन से भी जो अतीत है उसका साक्षादपरोक्ष दर्शन सारूप्य सालोक्य आदि पदों का व्यवहार भी इसी दर्शन प्रक्रिया केलिए किया जाता है। और जो मन्द बुद्धि हैं उनको वर्णाश्रम के आचार से अभ्यस्त कराकर उस अनुभव की ओर अग्रसर किया जाता है। भारतीय जीवन दर्शन में ऐसा कोई कालखण्ड नहीं है जिसको धर्मज्ञान या आध्यात्मिक अनुभव के लिए अनुपयुक्त हो ऐसा समझा। ध्रुव और प्रह्लाद उसके उदाहरण है। तब वर्णाश्रम धर्म उन लोगों के लिए है। जो मन्दमति हैं या विचारमूढ हैं। हां पादज को धर्म में या मोक्ष का अधिकार नहीं है यह भ्रान्ति मात्र है और आज के वोट के भिकारियों का हठवाद। हिन्दु धर्म वर्णाश्रम मात्र नहीं है। हिन्दु धर्म में और एक प्रमुख आचरणीय अपरिहार्यता भी। पर धार्मिक अनुभव के सामने गौण। हिन्दु समाज धर्मप्राण है। उसका क्या अर्थ हैं? आपामर समस्त जन जानते है माया या ईश्वर सर्वव्यापी है कर्म का फल अवश्य भोगना पडता है। मनुष्य में एक आत्मा है जो देही है देह से ऊपर शायद ये धार्मिक तत्त्व ऐसे हैं जिनको अर्चक या आत्म तत्त्व के साक्षात्कार कर्ता को समान रूप से ज्ञात हैं। जैसे क्षुधा रिरिंसा आदि राजा, रकं, वर्णभेद यहाँ काम नहीं करता इस्लाम के मुल्ला या इसाई मत के पादरी के समान अर्चक का विद्वान का, ज्ञान पामर से अधिक नहीं है। हाँ विद्वान् कुछ दार्शनिक गुत्थियों को सुलझा सकता है या मोक्ष के विषय में अधिक जानकारी पुस्तकस्थ वर्णनात्मक अनुभवात्मक नहीं जान सकता है। पर जगन्नियन्ता का सर्वव्यापकत्व देह की नश्वरशीलता आदि विषय समान रूप से ज्ञात है साधारण जन तथा विद्वान बराबर जानकारी (तद्विषयक) साक्षात्कारात्मक नहीं रखते हैं। इस जानकारी से धर्म अनुप्राणित है। सारे क्रिया-कलाप उसी जानकारी के आधार पर व्यवहार में लाये जाते हैं। यहां तक कि साहित्य संगीत शिल्प साहित्य इस ज्ञान से मूलतया प्रभावित है। लोक संगीत की बोलियां भी इसी तत्त्व को अनेक प्रकार से कहते हैं। कबीर या बाउल संगीत। उस ज्ञान को भारतीय समाज मानसिक शुष्क विचार के रूप में नहीं वरन् श्रद्धा विश्वास या आस्था के रूप में स्वीकार करता है। उसके खून मे रच बस गया है। एक

स्वभाव हो गया है। भारत के साधरण जन का हृदय उस चिन्मात्र के अधिक समीप है। बुद्धि के पास नहीं। बुद्धि वैचक्षण्य जीवन के साथ समरस हो यह आवश्यक नहीं। कल्पना की उडान अगतिक नहीं। शायद कर्मकाण्ड साधारण मानव को अधिक भाता हो क्यों कि क्रिया - कलाप में धर्म की गति को देख सकता है। स्थिर अगतिक नहीं। अत्यन्त वेग से जाते हुए नहीं जहां दोनों अवस्थाओं में अनुभूति सम्भव नहीं है। यदि साधारण मानव धार्मिक ज्ञान में भौतिक वस्तुओं के मोह से अधिक आदर न करता तो आचार्यों को सुनने वाला साधु - सन्तों की बात सुननेवाला कोई न मिलता। आज जो हर व्यक्ति हरि ओम या साईराम कहता है, उसका कारण है साधारण मानव की धर्मिक विश्वास में पूर्ण आस्था। बुद्ध के उपेदशों को सुनकर अत्यल्प समय में ही संसार का एक विशालतम जन समूह बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया भक्तिवेदान्त का संसार भर में चैतन्य सम्प्रदाय का भक्ति प्रचार का या ओशों का शिष्य वर्ग इस बात का प्रमाण है कि धर्म के मूल तत्त्वों की जानकारी में भारत का अनपढ साधारण जन भी प्रबुद्ध है और परिवर्तन को समझ सकता है तदनुकूल आचरण कर सकता है। एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: वह जानता है। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति भी जानता है। धर्म सैनिक शासन नहीं है। ये मूर्ति, ये मन्दिर, ये गोपुर, ये मण्डप सब आस्था के आधार है इन पर आत्मा की वह आवाज है जो मूर्ति के सन्मुख खडे होने के पश्चात् के निशब्दता में जो डूब गयी है। यदि आत्मा की आवाज को चीत्कार को क्रन्दन को वहन करनेवाले ये गोपुर द्वार गिर गये तो आत्मा की आवाज फिर कहाँ लिखी जायगी जहाँ से गिर न सके बिखर न सके।

जिन्दगी की लडाई से हारकर मानव मन्दिर में पहुँचता है यदि वहाँ पर भी जिन्दगी की लडाई लडनी पडे तो कहां जाय? यह दूभर जीवन क्यों जिए? किस के लिए (किन मूल्यों) जिए? ये मूल्यों की खोज शान्त और कलहप्रिय, सन्त और वञ्चक, और बालक-बच्चा सबके लिए एक प्रश्न है। क्या उसका समाधान मन्दिर है? मूर्ति है? देव में आस्था या भक्ति है? व्यक्तिगत मूल्य और सामाजिक मूल्य?

वैखानस इसका उत्तर भक्ति कहता है। अपनापन मिटाना कहता है। अहंकार को मिटाकर व्यक्तित्व का बोझ मूर्ति के सामने ढालने को कहता है। प्रणिपात उसका प्रतीक है। मानव ईश्वर से बढकर नहीं है। रावण और हिरण्यकशिपु की कथायें भारत में बच्चा बच्चा जानता है।

क्या ईश्वर एक मूल्य है। परमपुरुषार्थ का क्या अर्थ है। धर्माविरुद्धो कामोस्मि भरतर्षभ अन्य सारे नियम नैतिक या तदेतर इसी मूल विश्वास केलिए हैं।

क्या वर्तमान से भविष्य का मूल्य अधिक है जिसकी चिन्ता में आज कष्ट उठाकर भी मानव प्रयत्नशील है। ये पञ्चवर्षीय योजनायें सामाजिक स्तर पर भविष्य में अर्थात् अज्ञात में अधिक विश्वास करती है।

क्या नैतिक आचरण ईश्वर के विश्वास के बिना भी सम्भव है? नैतिक आचरण का क्या अर्थ है? यदि रूस की प्रजा है तो मजदूरों का भला और अमरीकी सरकार है तो पूजीपतियों का भला यही नैतिक है।

शब्द है अर्थ प्रवाह भारत भर में एक समान है। भारत की भाषाओं के दो मुख्य स्रोत है — आर्य भाषायें तथा द्राविड कुल की भाषायें। अर्थ - विज्ञान की प्रकृति प्रायः समान ही है - सांस्कृतिक परिवेश में ही अर्थ प्रकाश सम्भव है। अर्थात् वह अर्थ जो उस वर्ग के व्यक्तियों द्वारा ग्राह्य है। हरे राम बेंगन या मडि मैथुन का उस वर्ग विशेष के बाहर पूरी तरह जानना सम्भव नहीं है। क्यों कि 'हरे राम' या मडि पद का अर्थ एक संस्कृति में ही विशिष्ट प्रतिपाद्य के लिए ख्यात है। यदि शब्द से अर्थ प्रतिपाद्य तक की सरणि सर्वत्र अनन्य होती ते इतने दर्शनों का उद्गम ही न हुआ होता। सानुभव और उसको वर्णन करने अर्थात् शब्द द्वारा अर्थ (सहज बोध्य) रूप में परिमित करने की प्रक्रिया सरल नहीं है अतः 'नैको ऋषिः यस्य मतं न भिन्नम्' क्यों कि शब्द ठीक ठीक अर्थ नहीं बताते या विभिन्न व्यक्तियों की समझने की क्षमता समान नहीं है। अतः ग्रहण पार्थक्य है।

क्या जिस प्रकार नारद प्रह्लाद मीरा या चैतन्य महाप्रभु रामकृष्ण परमहसं ने भगवत् साक्षात्कार प्राप्त किया उसी प्रकार आज का मानव भी प्राप्त कर सकता है ? इस वाक्य में प्रकार पद तकनीक विशेष अनुभव विशेष या परिणाम विशेष को ख्यात करता है जिसको हम शब्दों द्वारा नहीं बता सकते। जैसे इक्षु क्षीर गुडादिकों का स्वाद -पार्थक्य इदमित्थम् रूप से नहीं बता सकते मीठा है। सुखद है। बस इतना ही। उसी प्रकार अनुभव का पार्थक्य आनन्ददायी है। कितना? नहीं बता सकते।

तपस्या भंग करने की बात पुराणों में बार बार आयी है। वर्तमान में भी तुम मुझे डिस्टर्ब न करो मैं पढ रहा हूं या कामकर रही हूं ऐसा प्रायः सुनने को

मिलता है। उसका क्या अर्थ है? मैं एक ऐसी मानसिक अवस्था को पहुंच रहा हूं जहां पर वर्तमान में उपस्थित भौतिक परिस्थिति का मुझ पर कोई प्रभाव न होगा उस मानसिक अवस्था में पंहुचने के पूर्व ही पुनः वर्तमान स्थितियों के परिवेश में, बन्धन में खिंच जाते हैं। तपस्या विघ्न का यही अर्थ हैं। कार्य -व्याघात। पर क्या तपस्या लीन यति भौतिक धरातल पर लोटकर नहीं आता? ऐसा नहीं है। मानसिक धरातल या मानसिक चेष्टाओं का कार्यक्षेत्र वर्तमान में प्रस्तुत सामग्री से भिन्न होता है। मन भी एक इन्द्रिय है। अन्य इन्द्रियों की सहायता के बिना जब मनसेन्द्रिय कार्यरत होती है तो धरातल ही पृथक् होता है।

क्या दर्शन करते समय व्यक्ति वर्तमान को भूल जाता है ? भूमि, माता, पत्नी, पुत्र, मुकदमा? यदि भूल जाता है तो सचमुच यह एक बही उपलब्धि हो कुछ लोग अवश्य भूलते हैं क्यों कि साधुसन्तों के यहां भी भीड लगी रहती है। मन्दिरों में भीड रहती है। तीर्थस्थलों पर भीड रहती है। तब उस भीड का कुछ कारण अवश्य है। भौतिक परिस्थितियों से अल्पकाल के लिए ही सही विमुक्ति। यह विमुक्ति ही आनन्दप्रद है।

मूर्ति दर्शन : दोनों चित् और अचित् उसी भगवान की रचना है जैसे चित्र पट और चित्र अतः जड जीव का सम्बन्ध भाई भाई का सम्बन्ध है प्रकृति में ही जीव सम्बन्ध है। सोदरता का सम्बन्ध है प्रकृति ही में जीव और जीव के संसर्ग में ही प्रकृति ऐसी ही भावना की मर्यादा है। भगवान विभु हैं अर्थात् समस्त दिक् देश और काल भी इन्ही का रूप है तब मान और वास्तु भी इन्ही का रूप है। यह वैखानस दर्शन का एक अंश है। देश का परस्पर सम्बन्ध दूरी और सामीप्य ऊँचाई -निचाई सब उसी के रूप हैं। मण्डल और मुद्रा शायद इसी दूरी और सामीप्य के सम्बन्ध के ख्यापक है।

मूर्तियों का जब गठन हुआ - मानोन्मान की प्रतीकात्मता जब अतवरित हुई तो भक्तिभाव विवृतद्वार हो फूट निकला। सौन्दर्य की उस शक्ति के सामने मनोगत भावों का उफान अपने आप को नतमस्तक करने केलिए बाध्य होगया।

भारत की दर्शन कला अद्भुत है। भ्रम को सत्य समझने का अनुभव नया नहीं है। ऐसा क्यों होता है मन के कारण वृत्तिविशेष जो चाहता है उसी को इन्द्रियां देखती हैं सुनती हैं। बाहर दीखने वाला जो है उसको ग्रहणकरनेवाली भारतीय दृष्टि नहीं है। रूपहीन शिवलिंग में अद्भुत और असीम शक्ति सौन्दर्य भारतीय ही

देख सकता है।

मूर्तिकला ने उसको और विजृम्भित किया। आलंकारिकों ने मन की मापकशक्ति को और उपबृंहित किया। हार, किरीट,केयूर, कुण्डल आदि सब अन्त: करण की वृत्ति के उन्नायक हुए। भक्ति का स्रोत फूट पडा। मूर्ति जो केवल प्रतीक का काम करती थी उसने उत्तेजक का भी काम किया। प्रतीकात्मता और दृढ हुई। मन्दिरों ने तो सामूहिक श्रद्धा की पात्रता प्राप्त की। उस श्रद्धा का कारण मन्दिर मूर्तिकी मान परिणति और अँगों की पारस्परिकता है।

मूर्ति तो रूप है उस अखण्डज्योतिका जो रूपहीन है। रूपहीन को एक भारतीय स्थपति ही मूर्त रूप दे सकता है। जो समस्त कल्याणगुणगणों से युक्त हो वह क्यों न सुन्दर हो। यह तो मानसी सृष्टि है भौतिक नहीं। ब्रह्मादयोऽपि तद्रूपलक्षण-निश्चयं ज्ञातुमशक्तश्चित्तभित्तौ तद्रूपं भक्तितूलिकया सङ्कल्प्य वर्णैऽरालिख्या-ऽलोकयन्ति। तस्माद्भक्तिरेव कारणम्। तत्रातोऽभीक्ष्ण दर्शनयोग्यं तत् भगवद्रूपं कल्पयेत्। काश्यप ज्ञानकाण्ड पृ.९१.

उष्णीश वह ज्योतिष्प्रभा है जो समस्त सृष्टि को अविराम आलोकित करती है। और पद्मासन के वे सहस्रदल पदे पदे अतिसांसारिकता की प्रतिमूर्ति होकर आंखों के सन्मुख उपस्थित होती है। वैखानस सम्प्रदायगत सामान्यबोल चाल में मन्दिर की अपेक्षा आलय पद अधिक प्रयोग में है। आलय पद वैसे हिमालय में प्रयुक्त है। शिवाला या शिवालय साधारण मन्दिर वाचक है। बौद्ध सम्प्रदाय में आलय पद विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है। प्राचीन पालि साहित्य में आलय पद सूत्रों में भी प्राप्त है किन्तु यहां यह रुचि, अनुनय, या अध्यवसाय के अर्थ में प्रयुक्ति है।-- महाहत्थिपदोपमसुत्त मज्झिमनिकाय १.३.८. बुद्धचर्या पृ.१७९. आलय विज्ञान माने जो कुछ भी है वह उसी का प्राकट्य है।

अर्थात् उत्सवविग्रह के समान अहं का जो आस्पद है वह आलय है। तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् अहं माने जीवमात्र नहीं जीवेश का अविभाजित चैतन्य निरुपाधिक चित् का वहां संकेन्द्रीकरण है। जैसे रूप रहित पत्थर को तराशकर मूर्त अर्चाका रूप, दिव्यविग्रह उस में से निकाला जाता है जैसे दूध से मक्खन उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त चैतन्य को उस मूर्ति में रूपायित किया जाता है तब चिति मात्र का धारक वह गर्भगृह या आलय है। उस मूर्ति में वह समता है जो स्वर्णाभरणों की बहुलतामें एकता का अनन्यता का परिचायक है। रूप हीन

- स्वर्ण - अनलंकृति प्रयोजकतारहित रूप अनलंकृति रूप उस में प्राप्त किया जा सकता है। मूलस्व-रूप वही है। समस्त मानवों जीवराशि में वसनेवाली आत्मा वर्ण- आश्रम- लिंग निर्विशेष। एक एकत्व में जाति, जैसे राष्ट्रका एक ही राष्ट्रपति होता है। वही अपने आप संसरणशील संसार का कूटस्थ परिवर्तन विहीन तत्त्व ही यही प्रत्येक व्यक्ति का वह अहं है जो यहां पिण्डीभूत हो सम्मिलित रूप से रहता है। यह समष्टि आत्मा, सारे जीव जिसके अंशहर हैं, दर्शन कर जीवमात्र की एकता स्थापित करते हैं- स एनमविदितो न भुनक्ति - श्रुति। यह हमारा पिता ही परमपिता है। जब आत्मीयताका दर्शन होता है तब वह आत्मीय होता है। दर्शन सफल होता है। उस आत्मीयता को देखना ही दर्शन है। भगवान को देखने का नाम ही दर्शन है शायद दर्शन का अर्थ उस आत्मीयता को पहचानना है देखना नहीं। क्योंकि सांख्य वैशेषिक मीमांसादिशास्त्र इसमें सहायक है अत: ये भी दर्शन कहाते हैं। उसीलिए देवऋण भी पितृऋण के समान समाधेय है। सामाजिक स्तर पर लोक में पुत्र ऋणकर्ता पिता के ऋण को चुकाने केलिए बाध्य है उसी प्रकार आध्यात्मिक स्तरपर देवऋण चुकाने की भी एक अपरिहार्य बाध्यता है। प्राय: लोग आंख मूदं कर ही भगवान दर्शन करते हैं अर्थात् देवदर्शन चक्षुदर्शन नहीं है वरन् अद्वैत दर्शन या योगदर्शन जैसा समग्रता अनुभव का दर्शन है। इन्द्रियातीत दर्शन। इसीलिए लोग मन्दिर से बाहर आने पर पूछते हैं दर्शन हुए ? उस दर्शन का अर्थ आंख से देखना या चक्षु व्यापार मात्र नहीं है। यह आत्मा से देखने की प्रक्रिया है प्र-योग है। देवमूर्ति में आत्मा की उस सजातीयता को पहचाना है जो उस पिण्ड में व्याप्त है। गीता में लिखा है - सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित: ६.३१. असंकुचित ज्ञानैकाकारता को प्राप्त करता है। निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति मुण्डक ३.१.३. विशुद्ध होकर परम पुरुष की साम्यता को प्राप्त करता है।

मूर्ति पूजा भारत में अनेक काल से प्रचलन में ही परन्तु मूर्ति पूजा का परम्परगत समाज में क्या स्थान था ? हेमाद्रि ने प्रतिमाओं के प्रतिग्रह पर प्रायश्चित करने को कहा हैं -

विष्णु सहस्त्रनाम में यह श्लोक पडित है -

योगो ज्ञानं तथा साख्यं विद्या : शिल्पादि कर्म च।
वेदा: शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ॥१३९॥

इस पर शंकराचार्य की टीका में उसमें कुछ विस्तार नहीं दिया है। जनार्दनात्

पद में पञ्चमी का प्रयोग है। यहां पर पञ्चमी का क्या अर्थ हो सकता है ? नहीं किया। जैसे घोडें से सवार गिरता है। अर्थात् घोडे ने सवार को पैदा नहीं अलग होने में प्रसूति का अर्थ है ? अगले श्लोक में अव्यय पद दिया है जिसका जिसका अर्थ है जो व्यय नहीं होता। तब पाणिनि ने जनिकर्तुः प्रकृतिः इस सूत्र में जायमान या पैदा होनेवाले का जो हेतु है वह अपादान में रहता है - जैसे ब्रह्मणः प्रजाः ब्रह्मा ने प्रजा की सृष्टि की या ब्रह्म से प्रजा की ब्रह्म द्वारा नहीं सृष्टि हुई ब्रह्म निमित्त और उपादान कारण है अर्थात् पैदा करने केलिए वही निमित्त भी है उपादान भी। यदि जर्नादन यहां निमित्तोपादान स्वयं है तो ब्रह्मा के समान शिल्पादि कर्म भी पूज्य हैं। पुनः भुवः प्रभवः में जहां से पहिले प्रक्ट हो वह पञ्चमी में होता है जैसे हिमवतः गंगा। हिमालय से गंगा। हिमालय ने गंगा को पैदा नहीं किया पर गंगा सर्व प्रथम हिमालय में पैदा हुई उस अर्थ में हिमालय पञ्चमी में है। यहां पर भी ये सव विधायें जनार्दन से सर्व प्रथम प्रक्ट हुई उस अर्थ में योग वेद आदि विद्याओं का जनार्दनसे उत्पन्न होना है।

दूसरी बात ध्यान देने की है - इन विषयों का क्रम यहां वेद का पाठ शिल्पादि कर्म के बाद किया गया है। तब, ऐसा भी कोई सम्प्रदाय क्रम होगा जहाँ पर वेद की स्थिति इस क्रम स्थान पर होगी।

केशवं प्रतिगृह्णीयात्सौम्यं विप्रो धनातुरः
दत्तं नृभिः विधानेन निष्कारणतया नृप
अकृत्वाऽधानपि वा कुर्यात्स्वोदरपोषणम्।
तस्यैयं निष्कृतिर्दृष्टा स्नात्वा नित्यं समाप्य च
रहः स्थानमुपाश्रित्य नामत्रयजपं चरेत्
मासं दीक्षामुपाश्रित्य भुञ्जन् यावकमुत्तमम्
प्रत्यहं स्थण्डिले सुप्त्वा मासमात्रेण शुद्ध्यति
जपेल्लक्षं ततः पूतः शुद्धी भवति सर्वदा। हेमाद्रि प्रायश्चित्त पृ.८१२. रामलक्ष्मण प्रतिमा प्रतिग्रहण प्रायश्चित्त पृ.८१६. श्रीमूर्ति प्रतिग्रह प्रायश्चित्त पृ. ८१७. दशावतार प्रतिमा प्रतिग्रह प्रायश्चित्त पृ.८१४.

विग्रहार्चन

विष्णुसहस्रानाम ६२९ में अर्चित :-

भगवान के नामों में अन्यतम है। अर्चित माने पूजित। विग्रह के बिना

भगवान की कल्पना भी सम्भव नहीं है। भगवान् अर्थात् सर्वशक्तिमान्। बल या काल की सीमा के बाहर अमीर गरीब को, बलहीन बलवानको बराबर करनेवाला। करुणामूर्ति दयासागार। भक्त की पुकार पर सहायता करनेवाला वात्सल्य परतन्त्र ये सब गुण सोचे भी नहीं जा सकते क्यों कि विरुद्धगुणों का, स्वभावों का भगवान समकालिक या एक कालिक आश्रय है। अधिष्ठान है अमूर्त है। समूर्त है। सुगण है। निर्गुण है। आवाङ्मनसगोचर है। और भक्त को दर्शन देता है। सर्वव्यापक है और विग्रहमात्र में सिमटा है। महाभारत ५.१७.१३ में विष्णु: विक्रमणाद्देव: कहा है। वाजसेनय सहिता २३.४९ में विष्णु: सर्वप्रवेशनात् कहा है। विष्णु का एक और गुण है उसका नमस्य होना त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्य: ऋ.२.१.३ भक्तों के ऊपर कृपाकरना उसका स्वभाव है। अत: भक्त उसकी पूजा करते हैं। ध्रुवा सोऽस्य कीरयो जनास ऊरुक्षितिं सुजनिमा चकार ऋ.7.100.4. ध्रुवास: का अर्थ खोलते हैं सायण ने ऐहिकामुष्मिकयो र्लाभेन स्थिरा भवन्ति अर्थात् ऐहिक एवं आमुष्मिक लाभ से स्थिर होते हैं ऐसा कहा है ऋग्वेद के दशममण्डल में भी प्रतिमा शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। ऋग्वेद में यो विश्वस्य प्रतिमानं वभूव में प्रतिमान शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ उसके समान या उसके मुकाबले का होना चाहिए। पाणिनि ने भी प्रतिकृति पद का प्रयोग किया है (इवे प्रतिकृतौ ५.३.९६ अश्व इव प्रतिकृति! अश्वक: इस पर टीका तृणचर्मकाष्ठादिनिर्मितं प्रतिमापरपर्यायं वस्तु प्रतिकृति: जीविका चापण्ये ५.३.९९. महाभाष्यकार ने इन सूत्रों पर टाका करते हुए मौर्यै: अहिरण्यार्थिभि: अर्चा परिकल्पिता मौर्यों ने साने की मूर्ति बनवाई अर्चा परि-कल्पिता। तथा पाणिनि सूत्र ५.३.९९. पर टीका करते हुए या: प्रतिमा: प्रतिगृह्य भिक्षमाण अटन्ति ता एवमुच्यन्ते। देवलका अपि त एव भिक्षवोऽभिप्रेता: यस्त्वायतनेषु प्रतिष्ठाप्यन्ते पूज्यन्ते च तासूत्तरसूत्रेण लुप्। तदुक्तम् अर्चासु पूजाना-र्हासु चित्रकर्मध्वजेषु च। प्रतिकृतौ लोपको देवपथादिषु इति। अर्चासु प्रति-मासु। प्रतिमासु कीदृशीसु पूजार्हेषु गृहेष्वायतनेषु या पूज्यन्त तासु चित्रकर्मध्वजाभ्यां तद्गता: प्रतिकृतयो लक्ष्यन्ते। यदि पूजा केलिए हो तो राम सीता, आदि पद होंगे और यदि मूर्ति बिक्री केलिए होता रामक, लक्ष्मणक, सीतिका ऐसे पद होंगे। न केवल पूजा केलिए प्रयुक्त मूर्तियां वरन् बिक्री केलिए भी मूर्तियां थीं जिनका व्यवहार अन्य पदों से किया जाता था। इन्द्र को दस धेनु देकर कौन खरीदगा ऋग्वेद में प्रर्थना प्राप्त है। डाक्टर वी. राघवन् ने अपने ग्रन्थ इण्डियन हेरिटैज में पृ.३१ पर

लिखा है कि ऋग्वेद में भावों की अभिव्यक्ति आति उदात्त रूप से प्राप्त है। सख्य, वात्सल्य एवं दास्य भाव भी अनेक सूक्तों में प्राप्त है जो कि परवर्ती वैष्णव साहित्य में विकसित होकर और पल्लवित हुई है।

पोतदार, के.आर. (सेक्रीफाइस इन ऋग्वेद पृ.१३.) ने भी कहा कि वेद मन्त्रों की रचना केवल यज्ञों मे प्रयोग करने लिए नहीं वरन् अपने हृद्गत भावों को देवता को प्रसन्न करने केलिए भी अभिव्यक्त करता है।

कुमारिल ने साधुशब्दाधिकरण में सगुण ईश्वर की पूजा स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है।

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ऋ.४.२४ -१०.

मूर्ति रूप

मूर्ति स्थिरता को प्रदर्शित करती है। धूम का आकार, प्रतिबिम्ब, वृक्ष, गृहादि और अन्ततः पर्वत को देख कर दृढता का, वस्तुका, दीर्घकाल तक दृढ रहने का तरतमात्मक ज्ञान मानव प्राप्त करता है और यही ज्ञान उस वस्तु की ओर इंगित करता है जो सदा स्थिर रहेगा और वह है ईश्वर। ईश्वर का रूप है। और दृढतम है कभी नाश न होनेवाला। सत् परमसत् तथा अनन्त ईश्वर ऐसा सत् है जिसके ऊपर अन्य किसी दृढतर सत् की कल्पना नहीं की जा सकती।

चिन्तन की प्रक्रिया, चिन्तनका आधार, और आश्रय सत् है। पर, उस आश्रय से अधिक सत् है वस्तु रूप परिणाम जैसे एक चित्रकार एक चित्र की परिकल्पना करता है। यह परिकल्पना सत् है। और उससे अधिक सत् है रूपवान चित्र जो उस परिकल्पना के आधार पर बनाया गया है इस परिप्रेक्ष्य में स्थपति जब मूर्ति की कल्पना करता है तो शिला को तराशने के बाद शिला संस्कार के पश्चात् जिस रूप को वह संस्कृत शिला गृहण करती है वह रूप अधिक सत् है अधिक चिरजीवी है। अतः सत् की कोटियों को विस्तृत रूप से नयन गोचर करने का माध्यम मूर्ति से बढकर अन्य नहीं है।

वैखानस की एक अन्य विशेषता है मूर्ति शास्त्र। मूर्ति निर्माण में निश्चय ही गणितीय सिद्धान्तों का आश्रय लिया जाता है आंख, नाक, कान, जानु, उदर, पाद, हस्त आदि की लम्बाई, गोलाई तथा पारस्परिकता उस गणितीय नियम से

बनाई जाती है, जिसको नयन और बुद्धि तुरत समझ लेते हैं एक ऐसी वस्तु जो साक्षात् जीवन में नहीं है उस वस्तु को भी चित्रकार चित्ररूप में परिणत कर बुद्धिगम्य बनाते हैं। आजकल भूविक्रेता तथा भवन निर्माण के व्यापारी ऐसा लुभावना स्केच या पूर्वरूप बनाकर दिखाते हैं कि खरीददार आकृष्ट होकर तुरंत खरीदने केलिए तत्पर हो जाते हैं। उस कृत्रिम लुभावनी मूर्ति को दिल में उतार देते हैं। और सब से प्रधान है गणितीय स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों का वैखानस दर्शन में प्रयोग।ध्यान से भगवान साक्षात् कृत होते हैं जैसे स्थपति की परिकल्पना में स्थित मूर्ति की प्रस्तर शिला पर आकृति। स्वयं सिद्ध भगवान की मूर्ति का ध्यान करने पर भगवान प्रत्यक्ष होते हैं यह अचूक सिद्धान्त वैखानस दर्शन ने अपने दर्शन में उतारा है।

स्तम्भों पर पक्षधर अश्व गरुड या नरसिंह की मूर्ति आधामानव, आधापशु या पक्षी, गण्डभेरुण्ड आदि प्रयत्न हैं जो संसार में तो दीखते नहीं है पर वास्तव में पत्थर पर दीखते हैं और उनकी सत्ता को बताते हैं।

मन्दिर

मन्दिरों की प्राचीनता :

मन्दिरों की सत्ता पुनारे समय से है। सांख्यायन श्रौत सूत्र १६.१८.१३-१७ में प्राप्त है। महाभाष्य २.२-३४ में भी प्राप्त है। द्वितीय शती ईसा पूर्व में स्थित भिलसा गरुड स्तंभ में उत्तम प्रासाद भागवत जैसे पदों का उल्लेख है। ऋग्वेद में मन्दिरों का सन्दर्भ साक्षात् नहीं तो परोक्ष अवश्य है। आ यद्योनिं हिरण्मयं बरुणमित्र सदर्थ ऋ.५.६७.२. मित्रावरुण का मन्दिर हिरण्यमय या सुवर्ण निर्मित है। राजानावनिभिद्रुहा ध्रुवे सदय सुत में। सहस्रस्थूण आसाते। ऋ.२.४१.५. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहंते। ऋ.७.८८.५. वरुण का प्रासाद सहस्र द्वारों से युक्त है। आपस्तम्ब ने मन्दिर का स्पष्ट उल्लेख किया है। गौतम धर्म शास्त्र ने भी। अशोक का काल प्रायः २७२-३२२ ई. पूर्व है। महाभारत वनपर्व १९०.६७ में -

एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता।
भविष्यति युगे क्षीणे तद्युगान्तस्य लक्षणम्॥

महाभारत का यह श्लोक इस बात को स्पष्ट करता है कि बौद्ध धर्म के

प्रचार के पूर्व मन्दिरों का समाज में प्रचार था। और महाभारत काल में मन्दिरों को तोड कर अनेक स्थान में एडूक बनाये गये। इसी सर्ग में अन्यत्र 'एडूकान् पूजयिष्यन्ति भी' कहा है। एडूक का अर्थ स्तूप या बौद्ध स्तूप है। इससे यह प्रमाणित है कि बौद्ध स्तूपों के पूर्व ही भारत में मन्दिरों की संख्या अत्यधिक थी एवं उन मन्दिरों में पूजा प्रचलित थी।

ब्राह्मणों में देवता आयतन पद प्रयुक्त है। देव प्रतिमा पद भी। पुराणकाल में पूजा व मन्दिर निर्माण प्रशस्त रूप से उभरकर सामने आया।

बुद्धि की मूर्ति की पूजा शायद इससे पहिले ही से प्रचलित थी। शोभायात्रा आपस्तम्ब के काल तक चालू हो चुकी थी एवं आपस्तम्ब गृह्य ७.२०. में उत्सव मूर्तियों का वर्णन है।

उस समय तक बुद्ध की मूर्तियां बनने लग गयी थीं। मन्दिर भी बने होंगे। अजन्ता एल्लोरा कार्ला हलेबिड बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध मन्दिर है। शायद उनका अन्तिम रूप उतना पुराना न हो। पुराण काल में मन्दिर निर्माण प्रशस्त रूप से उभर कर सामने आया। गुप्तकाल में मन्दिर भी अनेक बने। स्त्रीदेवता लक्ष्मी पार्वती भी मन्दिरों में पूज्य हुई। पल्लव काल में ६००-७५० तो मन्दिर अनेक बने। उसके बाद तो मन्दिर निर्माण की पल्लव शैली ही प्रसिद्ध होगयी। बाद में तो मन्दिर हर गाँव में प्राप्त होने लगे थे। विष्णु धर्मोत्तर पुराण ३.१.११. में मन्दिर बनवाने को एक पुण्य कार्य कहा है। 'प्रसादकरणं पुण्यम्' द्राविड नागर आदि शैलियां प्रसिद्ध ही है।

मन्दिर महत्त्वपूर्ण हैं इसलिए नहीं कि उसका स्थापत्य सुन्दर है, या मूर्तिकला सुन्दर है, पर वहाँ देवत्व कितने अंश में विद्यमान है और व्यक्ति पर उसका क्या और कितना प्रभाव पडता है। देव प्रासाद और देव मूर्ति बनानेवाले भारतीय स्थपतियों ने एक सौन्दर्यबोध की परम्परा ही चाल कर दी। देवालय की सुन्दरता कहीं कहीं देखते ही बनती है। जैसे दिलवारे का जैन मन्दिर।

बुद्ध मर तो गये, उनके पार्थिव अवशेष स्तूप में स्थापित है। स्तूप ऐसे बनाये गये जो अनश्वर हैं। २५०० से अधिक साल के बाद आज तक जीवित हैं। समय को लांघकर जीने का भौतिक रूप में एक नया प्रयोग — क्या मन्दिर ऐसे ही प्रयोग हैं। इसी अर्थ में शायद विष्णु का शरीर ही मन्दिर है एवं गर्भ-गृह में स्थित मूर्ति आत्मा।

मन्दिर कला केन्द्र

शिलालेखों के आधार पर निस्सन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि मन्दिर न केवल पूजा स्थल थे, बरन् सांस्कृतिक केन्द्र भी थे। धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त ललित कलाओं में भी शिक्षा दी जाती थी। शिल्प स्थापत्य, मूर्ति कला, संगीत नृत्य, नाट्य, चित्रकला, आदि का शिक्षण दिया जाता था।

मन्दिर और मन्दिर के उत्सव कलाओं से सम्बधित होते थे। अनेक नाटकों का मन्दिर में मंचन होता था। भवभूति ने महाकाल मन्दिर उज्जैन में नाटक के प्रयोग का वर्णन किया है। 'मन्दिरों में रंगमण्डप' इसीलिए बनाया जाता था। भरत नाट्य शास्त्र ने नाट्य मण्डप बनाने का विधान है।

मन्दिर कला का पोषक है। पूजा के लिए काम में आनेवाले उपकरणों (पूजा-पात्र) का निर्माण अत्यन्त कलात्मक ढंग से किया जाता है। मन्दिर को सजाने के लिए काम में आनेवाले फूल पत्ते हार सभी को अत्यन्त कलात्मक ढंग से बनाया एवं मूर्ति तथा मन्दिर परिसर को सजाया जाता था। मन्दिरों में प्रयुक्त सहस्रदीपालंकरण अत्यन्त शोभामय होता है।

स्थापत्य एवं शिल्प के पुरातन एवं नवीन सिद्धान्तों का प्रयोग, निर्माण विधि का यहाँ प्रयोग किया जाता था। भगवान के दिव्याभरणों का नया डिजाइन तैयार किया जाता था। शिल्पी को काश्यप ज्ञान काण्ड में अनेक प्रकार के पशु पल्लव पुष्पों से अलंकृत करने को कहा है।

उत्सव के समय अनेक वाद्यों का आतोद्य उनकी पारस्परिकता। उत्सव मूर्ति के समीप दूर-दूरतर स्थापन पंडित विद्वद्वर्ग, वेद पाठक, पुराण पारायणदार कहां उनका स्थान क्या हो? इन बातों का विशद आलोचन करके उनका स्थान नियत किया जाता था। और हां हमारे चतुष्पाद। वे भी भगवत्सृष्टि के अभिन्न अंग हैं। उनेक बिना शोभा यात्रा कैसी? हाथी, घोडे, ऊँट कितने कितने रखे जाँय? गुरुवायूर मन्दिर में तो १०० से अधिक हाथी हैं। उनके ऊपर आस्तरण सोना या चान्दी का, हौदा, जीन ये सब कला के प्रोत्साहन के निमित्त बनते हैं। किस बारीकी से सल्मे सितारों का काम इन आस्तरणों पर शिल्पकार करते हैं। किस पशु को प्रथम स्थान किसको परवर्ती यह उन पशुओं के मानव समाज में व्याप्त शोरगुल आतिशबाजी, कीर्तन एवं खरताल का स्वर, ढब और मञ्जीरों का स्वन सहन सामर्थ्य पर निर्भर करता है।

प्रतीक

मन्दिर धार्मिक प्रतीक है। सही अर्थ का प्रकाश प्रतीक का काम है। मन्त्रों के प्रारम्भिक पद से सम्पूर्ण मन्त्र का बोध हो जाता है। माता बच्चे का हाथ देखकर मेरा बच्चा है ऐसा पहचान लेती है। मूर्ति पत्थर की हो या मट्टी की मन्दिर में दर्शन करने पर दिव्य सन्निधान का अनुभव होता है। आधिभौतिक क्षेत्र में ले जाकर एक अनिर्वचनीय आनन्द का स्रोत बनता है जो रूप से ब्रह्मानन्द के समान ही होता है।

इस दृष्टि से मूर्ति प्रतीक भी है। अप्रतीक भी। अर्थात् विरुद्ध स्वभावों में एक कालावच्छेदेन रह सकता है। तब ईश्वर प्रतीक - अप्रतीक इस प्रकार विरुद्ध स्वभाव वाले दो रूपों एक ही काल में रहता है। प्रतीक वह वस्तु नहीं है यह सर्व विदित है। मार्गप्रदर्शन पट्टियां वे स्थल नहीं है जिनका मार्ग प्रदर्शन वे करती हैं। अलाउद्दीन खिलजीने पद्मिनी को नहीं देखा। पर केवल उसके प्रतिबिम्ब को ही देखा दर्पण में ही देखा। उसी पर रीझ गया। उत्कट अभिलाषा उस प्रतिबिम्ब को अपने वश में करने की नहीं वरन् पद्मिनी को अपने वश में करने की रही।

भगवान सर्वाधार है। स्वयं परमसत् है। सर्व शक्ति मान् है। चाहे भूकम्प हो या समुद्री तूफान। वह अन्तर्यामी है। अर्थात् सब कुछ उसमें वास करता है या सब कुछ का वही आकार है। सर्वव्यापी है। सर्वत्र उसका प्रसार है। अपनी परिपूर्णता में सत् चित् आनन्द उसी में रहते हैं। अर्थात् माता जैसे एक अंश से समग्र शिशु का बोध कर लेती है वैसे ही मूर्ति दर्शन से उस सर्वव्यापी को जानते हैं जिसकी प्रतिमा नहीं बन सकती। न तस्य प्रतिमास्ति श्वेताश्वतर ४.१९.

देव दर्शन के दो पहलू है। भौतिक एवं अतिभौतिक हम भौतिक स्तर पर पत्थर काष्ठ या स्वर्णमूर्ति के दर्शन करते हैं पर भौतिक स्तर से ऊपर उठकर, इन्द्रियों की व्यापिता से उठकर सांसारिक अर्थ में एक अतिसांसारिक अर्थ में ज्ञात या अनुभव लाभ करते हैं।

जब ये मूर्तियां अपने आप में प्रतीक मात्र हैं तो स्वयं इतनी पूज्य कैसे? क्या इस मूर्ति में प्रतीकात्मता से कुछ अधिक है? हाँ। जैसे राज्याधिकारी में जो केवल प्रतिनिधि है उसमें कार्यकाल में राजा की शक्ति क्षमता आजाती है वैसे ही मूर्ति में भी वे सभी गुण आजाते हैं जो भगवान में हैं।

मूर्ति में एवं तद्द्वारा आनन्दोत्पादकता में कोई सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध क्या है? शायद ज्ञात सम्बन्धों में कोई नहीं। तार्किक, तकनीकी, जैव, अनुक्रम गणितीय आदि। पर मूर्ति जो एक प्रतीक है भक्ति जन्य प्रागाढ्य आत्मा की वैकासिक स्थिति से अनन्याधिकृत है। और यह अनन्याधिकरण तज्जन्य प्रमाण की प्रामाणिकता को श्रुतिवाक्य के समकक्ष बैठा देता है।

मन्दिर का परिसर, भक्तों का समुदाय, पावनता पूर्ण वातावरण मानसिक रूप से ईश्वर के ध्यान में डूबे व्यक्ति को मन्दिर एक विशेष परिस्थिति में उपस्थित कर देता है।

प्रसादो वासुदेवस्य मूर्तिरूपो निबोध मे अग्नि ६१.९ प्रतीक न केवल ईश्वर की सत्ता को बताते हैं वरन्र ईश्वर की शक्ति को भी। प्रतीक चिह्नों के दर्शन में मानव एक ईश्वरीय सत् या दिव्यतेज को देखता है, अनुभव करता है। यह अनुभव व्यक्ति को धार्मिक परिवेश तथा धर्म के प्रतीक के प्रति आस्था को वृद्धिंगत करता है। इसीलिए प्रतीक माध्यम कहीं या कभी कुछ व्यक्तियों पर अधिक और कहीं अपेक्षा कृत कम प्रभावित करता है। परन्तु धार्मिक अनुभव को बताने वाला प्रतीक ही है।

व्यक्तिगत प्रतीकर तो व्यक्ति गत ही हो सकता है परन्तु विशिष्ट धार्मिक वर्ग या सम्प्रदाय विशेष के समस्त जनों के अवबोध के लिए इस प्रतीक का समाज सम्मोदित होना आवश्यक है। अतः उसमें सामाजिक की सामूहिक थाती की एक झलक सन्निहित है। प्रतीक का उपयोग ईश्वर के साथ व्यक्ति करे सम्बन्ध को बताने के लिए भी किया जाता है।

प्रतीक चिह्न धार्मिक परिवेश में गुह्यज्ञान का द्वार खोल देते हैं जिससे तद्धर्मानुयायी व्यक्ति कदाचित् प्रातिभ ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान का अवलोकन करता है।

मन्दिर : कालक्षेपका केन्द्र :

मन्दिर कालक्षेप का एक केन्द्र है। वैसे कथा कालक्षेप पद लोक प्रचलित है। भगवान की लीलाओं का वर्णन कथा या हरिकथा है। पर साधारणतया प्रतिदिन मन्दिर में जाकर भगवान के दर्शन करने की एक प्रथा आज भी लोक में

प्रचलित है। कुछ लोग नित्य यात्रा नियम से मनाते है। क्षेत्र सन्यास या काशी वास जैसे पद चतुर्थ आश्रमियों में प्रचलित है। गृहकृत्य समाप्तकर स्त्रियां भृंगार कर मन्दिर में जाती हैं। भगवद्दर्शन जन्य मोक्ष के अतिरिक्त, सारे संसार के समाचारों का आदान-प्रदान। गांव में कहां बच्चा पैदा हुआ है, किसके घर मेंहमान आये हैं से लगाकर अखबार में क्या छपा है। रेडियों की क्या खबर है, पुलिस किसके घर आई है फैशन साडियों के नये डिजाइन, आभूषणों की अनेक नूतनतम आकृतियां इत्यादि इत्यादि। पुरुष वर्ग यह कार्य सुबह ही निपटा लेते हैं। अपने काम पर जाने के पूर्व भगवत् दर्शन और सामाजिक अन्य सूचनाओं का आदान प्रदान मन्दिर में ही होता है।

साक्षी : पद ईश्वर के विशेषण के रूप में अत्यधिक प्रचार में है। 'सर्व: कश्चित् प्रभु: साक्षी' मैत्री ६.१६ तेभ्यो विलक्षणो साक्षी - कैवल्योपनिषत् १८ गीता में गतिर्भर्त्ता प्रभु: साक्षी कहा है ९.१८ श्वेताश्वतर ६.११ का यह वाक्य - साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च सबकी जुबान पर है। साक्षी अर्थात् साक्षात् दृष्टा कौन सुखी है कौन दु:खी है यह बताने की आवश्यकता नहीं है। क्यों की स्वाध्यस्त है अत: बिना किसी रुकावट या व्यवधान के देखता है। संजय के समान उसे दिव्य चक्षु की आवश्यकता ही नहीं। गांव में झगडे भी ईश्वर के सामने मन्दिर में ही निपटायें जाते हैं क्यों कि भगवान तो सारे साक्षियों का साक्षी है। मैं अन्धा हूं, मेरा ध्यान कहीं और था ऐसा कचहरी में तो गवाह कहा सकता है पर मन्दिर में भगवान के सामने नहीं कह सकता क्यों कि वह तो सर्वव्यापी है, अन्तर्यामी है। शायद इसीलिए भगवान के नामों में अन्यतम नाम साक्षिगोपाल भी है। सहस्राक्ष अनन्त आंखों वाला।

आज तक शिक्षश्रा धार्मिक या धर्म निरपेक्ष इस प्रकार दो भागों में नहीं बटी थी। मदरसा पद साधारण स्कूल या पाठशाला के अर्थ में बहु व्यवहृत पद है। पर अब गत दशाब्द में मदरसा माने मुसलमानों को कट्टर धार्मिकता सिखाने वाले केन्द्र ऐसा अर्थ हो गया है। पूर्व में मध्यकालीन भारतीय समाज में मन्दिरों का योग दान कम नहीं हैं। मोहम्मद गोरी के काल से ही मन्दिरों को मूर्तियों को तोडना, मन्दिरों की सम्पत्ति लूटना सामान्य प्रतिदिन की घटना थी।

जब मुगल साम्राज्य अपनी चरम सीमा पर था तब देश भर में अदम्य भक्ति आन्दोलन व्यापक प्रचार में था। विजयनगर साम्राज्य १३७०-१५६५ के

पतन के पश्चात् दक्षिण भी मुसलमानों की चपेट से न बच सका। शिवाजी ने विद्यारण्य के पश्चात् देश की आत्मा की मरहम् पट्टी की। फिर तो सन्तों की झडी ही लग गयी। सारे भारत में - आसाम में शंकर देव, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु, उत्तर प्रदेश में कबीर, तुलसी, सूर, राजस्थान में मीरा, गुजरात में नरसी भगत भक्ति की लहर दौड गयी। सामाजिक उथल पुथल के बीच स्मृतिकारों ने कालोपयुक्त परिस्थितियों के अनुकूल व्याख्यान प्रस्तुत किये। प्रायः भारत की सभी भाषाओं में रामायण, महाभारत, भागवत के अनुवाद हुए जिनका गौरव तत् तत् प्रान्तों में मूल के समान ही है। तुलसी का रामचरित मानस वाल्मीकि रामायण से लोकादर में किसी प्रकार कम नहीं है, यह सभी स्वीकार करेंगे।

आत्मा की भूख को मन्दिरों ने अपनी कार्य प्रणाली एवं समयोचित कर्मकाण्ड के द्वारा सजीव रखा। पञ्चकाल पूजा, अनेक उत्सव, रंग मण्डप में नाटक धार्मिक नेताओं के व्याख्यान सन्तों का आगमन और अनुग्रह आशीर्वाद द्वारा सामान्य जनता में धैर्य बांधे रखा। क्यों कि सन्त व्यक्तिगत गृहस्थों के घरों की अपेक्षा मन्दिरों में रहना अधिक पसन्द करते हैं जहां पर वे अपनी साधना बिना किसी विघ्न के सम्पादन कर सकें।

और यहीं पर इन राजनैतिक सामाजिक उथल पुथल बीच प्रारम्भ हुआ कथा वाचन का सम्प्रदाय। साधारण जनता में इन रामायण भागवत की कथाओं का अत्यधिक आदर हुआ। धार्मिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व पुराण की कथा उपकथाओं द्वारा समझायें गये। संगीत की स्वरलहरी एवं वाद्यों की संगति ने इसे मनोरञ्जन का प्रबल साधन भी बनाया। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन में मन्दिरों का अवदान अल्प नहीं है। मन्दिर ही धार्मिक शिक्षा के केन्द्र भी बने। ग्रन्थ पढ कर नहीं वरन् हरि कथा के माध्यम से।

जब मध्याह्न में मन्दिर के पट बन्द हो जाते थे और शाम को मन्दिर के पट खुलने के पूर्व मन्दिर का खाली भवन शिक्षा केन्द्र के रूप में कार्य करते थे। आजके समान स्कूल कालेजों की बडी बडी विल्डिगे नहीं थी संस्कृत पाठशालायें वही चलती थी। चतुर्दश विद्यास्थानों का वही केन्द्र था क्यों कि भगवान ही तो समस्तज्ञान का पुञ्जीभूत घनाकार है। उसकी सन्निधि में ही विद्याभ्यास हो इससे अधिक उपयुक्ततर और क्या हो सकता है?

मन्दिर भारतीय समाज के वे स्थल हैं जहां वैचारिक जगत् के तात्त्विक

विचारों का ऊहापोह एवं विश्लेषण होता था। यही पर अतिमानवीय मूल्य, आदर्श, परम शान्ति एवं आत्मिक उन्नति की नींव रखी जाती थी एवं आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होने का शिक्षण दिया जाता था।

मन्दिर : सामाजिक केन्द्र :

भारतीय संस्कृति जीवन को भागश: नहीं देखती। जीवन एक और अखण्ड है। पर 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। वृद्ध व्याह नहीं रचाते। बालक सन्यास ग्रहण नही करते। जो काम जिसको करना है जब करना है तब करने से ही उसका स्वारस्य है क्यों कि चारों पुरुषार्थ उसी व्यक्ति (जीव) को प्राप्त करने हैं।

मोक्ष में सब का अधिकार है। मौलिक अधिकार। कोई उसे अपहृत नहीं कर सकता। हां, उपाय भेद हो सकते हैं। रासलीला का वर्णन करने वाला ग्रन्थ भागवत भी उतना ही धार्मिक ग्रन्थ है जितना संसार को मिथ्या बतानेवाला ब्रह्मसूत्र भाष्य।

तिब्बत से लगा कर श्रीलंका सहित कम्बोडिया तक संसार को आश्चर्य चकित कर देनेवाले हिन्दु देवताओं के मन्दिर भारतीय स्थपतियों की ही देन हैं। मन्दिर ही शिल्पियों के रोजी रोटी के प्रधान आश्रय दाता है जिससे समाज के इस वर्ग का उनकी कला का ह्रास न हो।

मन्दिर के प्रसाद वितरण पर अवश्य कुछ लोग आश्रित रहते हैं। अर्चक परिचारक अर्चक को वेदाध्ययन एवं पौरोहित्य का ज्ञान जिस में नक्षत्र विद्या भी सम्मिलित है अवश्य होता चाहिए तभी समाज के सभी वर्गों के लिए उपकारक हो सकता है। थोडा बहुत आयुर्वेद का ज्ञान भी पुजारी रखते नही हैं।

प्रासाद

अग्नि पुराण ६१.२६ में

निश्चलत्वं तु गर्भोसौ अधिष्ठाता तु केशव: एवमेष हरिस्साक्षात् पासादत्वेन संस्थित:।।

मन्दिर या जिसको प्रासाद भी कहते हैं, भगवान का स्वरूप ही है। सम्पूर्ण प्रासाद भगवान का विग्रह ही है।

पुन: अग्नि पुराण में ही ६१.२३-२५ में मानव के जो अंग है उनको उन्हीं नामों से मन्दिर में भी पुकारा जाता है।

प्रासाद शब्द प्रारम्भ में केवल देव मन्दिर का ही वाचक था। यद्यपि अमर कोश कार ने २.२९ में 'प्रासादो देवभूभुजाम्' — देव और राजाओं के दोनों के भवनों को प्रासाद कहा है। शिल्परत्नपूर्व १६.१९ में

देवा दीनां नराणाञ्च येषु रम्यतया चिरम्

मनांसि च प्रसीदन्ति प्रासादास्तेन कीर्तिता:

जहाँ देव एवं मनुष्य दोनों का चित्त प्रसन्न हो उसे प्रसाद कहा है। प्रासादमण्डन एक ग्रन्थ का नाम ही है। तब न केवल वास वरन् चित्त को आह्लादजनकताप्रदान करना व मण्डन अलंकरण दोनों का समावेश वरवर्ती प्रयोगों में देखने को मिलता है। बृहत्संहिता अध्याय ५६ तथा मत्स्यपुराण अध्याय २६९ में प्रासाद केवल देवगृह के लिए प्रयुक्त है। समराङ्गण-सूत्रधार ५५.१०४-१०५ में

कीर्तितानि विमानानि यान्येव सुखर्मनि वतान्येव स्थावरत्वेन प्रासादा इतिद विश्रुता:

ये गगन की ऊँचाई स्पर्श करनेवाले विमान यही स्थावर रूप है और प्रासाद नाम से विख्यात हैं।

अध्याय नौ

क्रियायोग

पूजाविधिः क्रियायोगो वासुदेवस्य कीर्त्यते। स्कन्द, वैष्णव २.२६.४.

क्रियायोग देवाराधन तथा उनके पूजन के लिए मन्दिर निर्माण आदि पुण्यकर्मों को क्रियायोग कहते हैं। अग्निपुराण के वैष्णव क्रियायोग के यमानुशासन अध्याय में इसका विस्तृत विवरण है। क्रियायोग का वर्णन महाभारत, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, भागवतपुराण, पद्मपुराण, बृहन्नारदीय पुराणों में प्राप्त है। विष्णुधर्म ने एक लम्बे अध्याय में उसका वर्णन किया है। जिसका अल्बरुनी अपने ग्रन्थ में अनुवाद किया है। स्कन्द वैष्णव ने अनेक अध्यायों में क्रियायोग का वर्णन किया है। जयाख्य संहिता में तथा वैखानस सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में क्रियायोग का वर्णन प्राप्त है। पुराणों में प्राप्त क्रियायोग पाञ्चरात्र परक अधिक और वैखानस सम्प्रदाय परक कम है।

भागवत के ११.२७ वें अध्याय में वर्णन है। टीका की टिप्पणी में —क्रियायोग क्रियायोगोऽर्चनलक्षणो मोक्षोपायः, कहा है। पुन क्रियायोगेन शस्तेन नाति हिंस्रेण नित्यशः भागवत ३.२९.१५ में टीकाकार श्रीधर ने — क्रियायोगेन पाञ्चरात्राद्युक्तेन पूजाप्रकारेण कहा है।

पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग के अन्तर्गत हैं।

पाणिनि ने भी क्रियायोग पद का प्रयोग किया है उपसर्गः क्रियायोगे १.४.५९. उपसर्ग का अर्थ गति किया है गति का व्याकरण में क्या अर्थ है? कृदुत्तरपद प्रकृति स्वरसिद्धिः। स्वर सिद्धि। सृष्टि को ही सर्ग कहते हैं। उपसर्ग माने उपसृष्टि बिना क्रिया के सृष्टि नहीं है।

ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद भारतीय दर्शन में पुराना वाद है। मत्स्य ने कर्मयोगं बिना ज्ञानं कस्यचिन्नेह दृश्यते ५२.१२लिखा है। अर्थात् कर्मयोग के बिना ज्ञान योग किसी को प्राप्त नहीं हो सकता । आठ आत्मगुणों को ही क्रियायोग कहा है ५२.११ यह पुराण कोविदों का मत है।

मानव क्रिया-कलाप किसी एक दार्शनिक या धार्मिक पद्धति से नहीं चलते। तब धार्मिक सिद्धान्तों को किसी संहिता के रूप में नहीं बल्कि संसार की समस्याओं के प्रति एक दृष्टिकोण के रूप में लेना चाहिए। ये दृष्टिकोण बदल भी सकते हैं।

कर्मकाण्ड धार्मिक अनुभव की एकरूपता को स्थिर करने का एक साधन है। यदि पूजा पद्धति में फेर बदल किया जाय तो तज्जन्य दिव्यानन्द प्राप्ति में फेर बदल हो सकता है, अर्थात् दिव्यानन्द पा भी सकते हैं और नहीं भी । नहीं पाने की अवस्था में धार्मिक सत्य की या जिसको हम धार्मिक कृत्यों द्वारा प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करते हैं, ऐसा अनुभव सत्य या सिद्धान्त मिथ्या, अपूर्ण या अपसिध्दान्त हो सकता है जिसको उस धर्म के प्रचारक सहन करने को तैयार नहीं है। अतः वैखानस धार्मिक सन्धान ने तीन प्रक्रियाओं को अपनाया और एक मिश्र सिध्दान्त बनाया -

१. पूजा पद्धति, २. यज्ञपद्धति और ३. योगपद्धति। और इन तीनों पद्धतियों का समष्टि नाम क्रियायोग रखा।

विष्णुपुराण में योग की परिभाषा –

आत्म प्रयत्न सापेक्षा विशिष्ट या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥ वि.पु.६.७.३१.

भागवत में उद्धव और भगवान के बीच संवाद में -

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सितः ॥ भाग.११.२७.४९.

अध्याय के प्रथम क्ष्लोक में ही उद्धव ने प्रश्न किया -

क्रियायोगं समाचक्ष्व भगदाराधनं विभो।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ ॥ भाग.११.२७.१.

तब क्रियायोग में ही तीन उपसम्प्रदाय बने

वैदिकस्तान्त्रिकोमिश्रः इति में त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥ भाग.११.२७.७.

पूरे अध्याय (११.२७) में पूजा का वर्णन है। निश्चय ही यह क्रियायोग है पर क्या वैखानस सम्प्रदाय स्वीकृत क्रियायोग यही है?

क्रिया संसार का नियम है। उसने इच्छा व्यक्त की - एकोहं बहुस्याम काम ढूंढ लिया। सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। अपने आप को सृष्टि चलाने के लिए बलिदान कर

दिया। मनुष्य पैदा होता है। संसार चलाने केलिए, बच्चे पैदा करता है और स्वयं जरा मृत्युकी ओर अग्रसर होता जाता है। तब सृष्टि के आरम्भ में ही दो बातें भगवान ने उपदिष्ट कीं - काम करो और उसकेलिए आत्मबलिदान करो।

सारा प्रपञ्च कामकी उग्रता में बंधा है। बीज पृथ्वी में पडा नहीं रहना चाहता। पृथ्वी फ़ोड कर बाहर आता है। गर्भस्थ शिशु अमित प्रसव वेदना के पश्चात् (और अब पेट फाडकर) गर्भकोश के बाहर आता है और बाहर आने के पश्चात् ही उसकी श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। वायु सततगति से वहनशील है। सूर्य तपता है। वसन्त और वर्षा-ऋतु, कार्य-रत हैं। कलकल करती नदी धरती की प्यास बुझाती सागर में आत्मसमर्पण कर देती है। क्रियायोग विश्व का नियम है। यह ब्रह्म के साथ उपजा है। 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' मानव भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता। कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समाः ईश १.२ काम करते रहने से ही सौ वर्ष जी सकते हैं। कर्मणैव संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

योगसूत्र ईश्वर प्रणिधानाद्वा १.२३.

इस पर भाष्य - प्रणिधानाद्भक्ति विशेषादावर्जित ईश्वरास्तमनुगृह्णात्यभिध्यान मात्रेणातदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतरः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति।

नागोजी भट्ट ने साधनपाद के प्रथमसूत्र को अवतरित करते हुए लिखा है - त्यागोत्र योगान्तरायस्य क्रियायोगरूपस्य बाह्यकर्मणः - तपः स्वाध्याय इत्यादि २.९. उस पर योगोपायत्वात् योगः। क्रियारूपयोग इत्यर्थः। ईश्वरप्रणिधानरूपो भक्तियोगोप्यत्र क्रियायोगमध्ये एव प्रवेशितः। यद्यपि यमादयोपि क्रियायोगः तथाप्येतत्त्रयेण केवलेनापि तीव्रतरेण योगसिद्ध्यास्य प्रकृष्टत्वात् पृथङ्गिनर्देशः । तपश्च चित्तप्रसादाविरोधिमृदेव कार्यमिति महर्षिर्मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं लौकिकवैदिकसाधारणसर्वकर्मणामन्तर्यामितया परमगुरावीश्वरे समर्पणम्।

'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' यदि ईश्वर के प्रति मन को लगाये रखा अर्थात् ईश्वर केलिए कर्म करते रहे तो मन सांसारिक कर्मों के प्रति, दुःख समुदय के प्रति आकृष्ट न होगा। वैखानस सम्प्रदाय का मुख्य अवदान क्रियायोग है। ईश्वर केलिए कर्म करते रहना। मन को ईश्वर के प्रतिपाद्य कर्मसमुदय में स्वतन्त्र और इन्द्रियार्थो केलिए प्रतिपाद्य कर्मों केलिए नियम निगडित।

यज्ञानां जपयज्ञोस्मि। कर्म की परिभाषभी वैखानस की अपनी देन है। कर्म गमन आगमन आकुञ्चन प्रसारण या जो दीखे वे कर्म हैं। इस अर्थ में कविता रचना या समाधि लगाना क्या है? क्या इन्द्रियों द्वारा सम्पाद्यमान कर्म ही कर्म है। मन से किये जाने वाले कर्मभी औपचारिक रूप से कर्म कहलाये। जप उनमे अन्यतम है। योग में चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहते है पर चित्तक्या है। इसकी परिभाषा नहीं दी है पर गीता ने नियतं कुरु कर्म त्वम् कहा है। यह स्वभाव सिद्ध कार्य करना ही नियत कार्य है।

पातञ्जलयोग में साधनपाद का प्रथमसूत्र इसप्रकार है - तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। वाचस्पतिमिश्रकी इस पर टीका-तत्र वक्ष्यमाणेषु नियमेषु आकृष्य प्राथमिकं प्रत्युपयुक्ततरतया प्रथमतः क्रियायोगमुपदिशति सूत्रकारः। क्रियैव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात्। अतएव विष्णुपुराणे खण्डिक्यकेशिध्वज संवादे -

योगयुक् प्रथमं यागी मुञ्जमानोभिधीयते ६.७.३३.

इत्युपक्रम्य तपः स्वाध्यायादयो दर्शिताः।

इस पर व्यास भाष्य —

नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति।

इस पर टीकाकार —

कामतोऽकामतोवापि यत्करोति शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि सन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

इस पर वाचस्पति — ननु क्रियायोग एव चेत् क्लेशान् प्रतनूकरोति कृतं तर्हि प्रसंख्यानेत्याह - प्रतनूकृतानिति। क्रियायोगस्य प्रतनूकरणमात्रे व्यापारो न तु वन्ध्यात्वे। क्लेशानां प्रसंख्यानस्य तु तद्वन्ध्यत्वे। दग्धबीजकल्पानिति। बन्ध्यत्वेन दग्धकमलबीज सारूप्यमुक्तम्।

द्वितीय अध्याय के अन्त में वाचस्पति ने यह श्लोक पढा है—

क्रियायोगं जगौ क्लेशान्विपाकान् कर्मणामिह।
तद्दुःखत्वं तथा न्युहात्यादे योरस्य पञ्चकम्॥

इस सन्दर्भ में भोज देव की वृत्ति इस प्रकार है —

तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यास पूर्वको योगः सात्म्यमुपयातीति तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोग

माह - तपः स्वाध्याय इत्यादि।

तपः शास्त्रान्तरोपदिष्टं कृच्छ्चान्द्रायणादि। स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियानां तस्मिन् परमगुरौ फल निरपेक्षतया समर्पणम्। एतानि क्रियायोग इत्युच्यते।

द्वितीय सूत्र -समाधिभावनार्थ... पर टीका करते हुए तस्मात्प्रथमं क्रियायोगावधानपरेण योगिना भवितव्यम् - इत्युपदिष्टम्

वाचस्पति मिश्र द्वितीय सूत्रको अवतरित करते हुए लिखते है - स हि क्रियायोगः क्रियायोग क्यों पालनीय है -१.समाधिभावनार्थ और २.क्लेशतनूकरणार्थ। समाधि को भावित करने में तथा क्लेश को लघु या कमकरने में। क्रियायोग प्रतनूकरण या सामर्थ्य को शिथिल करने मे सहायक हो सकता है, बन्ध्याकरण या सम्पूर्ण नाश में नहीं।

ये तप इत्यादि अभ्यास करने पर चित्तगत अविद्या आदियों को शिथिल करते हैं अतः समाधि केलिए उपकारक सिद्ध होते है। इसलिए विज्ञ योगी को चाहिए कि क्रियायोग का प्रथम अभ्यास करे। तब क्लेश क्षीणबल होते हैं।

क्लेश अविद्यामूल है और विवेकख्याति के अतिरिक्त उनके बन्ध्यात्व का अन्य कारण नहीं है।

क्लेश किसको कहते है ? अविद्या-अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश - ये पांच क्लेश हैं। यदि एकाग्रता लानी है तो इनका प्रतनूकरण करना पडेगा और तनूकरण क्रियायोगद्वारा सम्भव है। जब क्लेश हीनशक्ति हो जाते है तब तनूकरणद्वारा उनको निर्मूल करना सम्भव है।

यद्यपि तपः स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (ये तीनों ही मिलकर क्रियायोग कहलाते है) यम-नियम आदि भी योग के अंगों में शामिल है तथापि उनका अत्यधिक प्रभाव होने के कारण इनका पाठ अलगसे किया गया है।

मरीचि ने अपने ग्रन्थ की प्रतिपाद्य विषयसूची आरम्भ में प्रथमपटल में ही प्रस्तुत की है – अग्नौनित्य होमान्ते विष्णोर्नित्यार्चागृहे देवायतने वा भक्त्या भगवन्तं नारायणमर्चयेत् इति विखनसा सूत्रे समासेनोक्तं तदवशेषविशेषेण समन्त्रकं सप्रयोगं

क्रियामार्गं क्रमेण विस्तरतो वक्ष्यामि। पृ.२.

ध्यान देने की बाद है कि वैखानस सूत्र में दो स्थानों पर पूजा का सन्दर्भ आया है। एक स्थान पर केवल गृह पूजा ही है और दूसरे स्थान पर 'गृहे देवायतने वा' ऐसा पाठ है। प्रथम गृह ही लिखा है पर मरीचि ने देवायतन ही मुख्य बना दिया है।

यज्ञ होमादि प्रक्रिया को गौण या नगण्य कर दिया है। पृ.३००.

अथाग्नौ नित्यं होमान्ते विष्णो र्नित्यार्चा सर्वदेवार्चना भवति अग्निर्वै देवाना-मवमो विष्णुः परमस्तदन्तेरण सर्वा अन्या देवता इति ब्राह्मणं तस्माद्गृहे परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य सायं प्रातर्होमान्तेऽर्चयति ४.१०.

तं यज्ञं पुरुषं ध्यायन् पुरुषसूक्तेन संस्तूय प्रणामं कुर्याद्यज्ञेषु विहीनं तत्संपूर्ण भवतीति। श्रुतिर्द्विजातिरतन्द्रिनो नित्यं गृहे देवायतने वा भक्त्या भगवन्तं नारायणमर्चयेत् तद्विष्णोः परमं पदं गच्छतीति ४.१२ वैखानस गृह्यसूत्र.

वैखानस सूत्र में कहीं भी गये क्रिया मार्ग पद का प्रयोग नहीं है।

पद्म पुराण के अन्तर्गत क्रियायोगसार खण्ड दिया है। इसमें २६ अध्याय हैं। ३०४६ श्लोक हैं। संवाद जैमिनि और व्यास के बीच है।

तस्मात्त्वमपि विप्रेन्द्र क्रियायोगेन केशवम्।
समाराध्य सदा भक्त्या व्रज विष्णोः परमं पदम्॥२.३९.
सम्मार्जयन्ति ये नित्यं मम स्थानानि सत्तम्।
दीपं यच्छन्ति तत्रैव ज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः॥२.९५
शीर्णं मन्दिरं ये च कुर्वन्ति नूतनं पुनः।
तत्रायतनशोभां च ज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः॥२.९६.
तीसरे अध्याय में क्रियायोग का लक्षण बताया गया है-
क्रियायोगस्य तत्त्वं में ब्रूहि व्यास महामते।
क्रियायोगमहं ज्ञातुं मिच्छामि भवतो मुखात् ॥१॥
क्रियायोगध्यानयोगावुभौ योगौ प्रकीर्तितौ ।
तरोराद्यः क्रियायोगः कुर्वतां सर्वकामदः॥३॥
गंगाश्रीविष्णुपूजा च दानानि द्विजसत्तम्।
ब्राह्मणानां तथा भक्तिमक्तिरेकादशीव्रते॥४॥

धात्री तुलस्योर्भक्तिश्च तथा चातिथिपूजनम्।
क्रियायोगाङ्गभूतानि प्रोक्तानीति समासतः ॥५॥
क्रियायोगादृते विप्र ध्यानयोगान्न सिद्धयति ॥६॥

क्रियायोग और ध्यान योग इस प्रकार से योग के दो वर्ग हैं। दोनों ही योग हैं। क्रियायोग का संक्षेप में लक्षण इस प्रकार है।

गंगा श्री और विष्णु की पूजा दान एकादशी का व्रत रखना ब्रह्मणों में श्रद्धा धात्री और तुलसी में श्रद्धा अतिथियों का पूजन ये क्रियायोग के अंगभूत हैं। क्रियायोग के बिना ध्यानयोग सिद्ध नहीं हो सकता। मातापिता की सेवा करना भी क्रियायोग है।

प्रत्यक्षदेवौ पितरौ सेवन्ते ये त्वहर्निशम्।
सर्वसिद्धिर्भवेत्तेषां प्रसादाज्जगतीपतेः ॥
नारायणेति मन्नाम कदाचिद्यः स्मरेन्नरः।
साधयाम्यखिलं तस्य पितुः पुत्र इवेप्सितम्॥ क्रियायोगसार १०.६४.

'ॐ नमो नारायणेति' अष्टाक्षरी मन्त्र है। इसके पाठ से सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

भगवदनुग्रह एवं नित्य कर्म सिद्धान्त को लेकर वैष्णव सम्प्रदाय में दो प्रस्थान ही बन गये पर क्रियासारोपपुराण में कर्म का प्रतिफल ही नष्ट कर दिया। भक्त के वश भगवान और नाम स्मरणमात्र से भक्ति से या अन्यथा भी भगवान सारे कर्मबन्धों को नष्ट कर देते हैं। अनेक कथाओं में यमदूतों और विष्णुदूतों के बीच युद्ध दिखाया गया है। कर्मानुसार यह मृत जीव नरक गामी है और यम किंकरों का इस पर अधिकार है पर विष्णुस्मरण करने के कारण विष्णुलोक में इस का स्थान सुरक्षित पाया गया।

यस्य तुष्टोस्म्यहं विप्र स पापात्मापि मुक्तिभाक् क्रियायोगसार १९.८०.
क्रियायोगेन मां नित्यं समाराध्य द्विजोत्तम क्रियायोग सार १९.८१.
क्रियायोगैर्हरिं चेष्ट्वा जगाम परमं पदम् क्रियायोग सार २१.१०९.

पद्मपुराण आदि खण्ड अध्याय ५०,१,५२ और ५३ में कर्मयोग का वर्णन है। यह कर्मयोग विष्णुधर्म में प्रदत्त क्रियायोग से भिन्न है।

ज्ञानयोगस्तु योगस्य यस्तु साधनमात्मना ।
यस्तु बाह्यार्थस्तद्योगः क्रियायोगः स उच्यते ॥

आत्म साधन यदि योग है तो बाह्यार्थ क्रियायोग है। भागवत के एकादश स्कन्ध के २६ में आध्याय मे क्रियायोग का वर्णन है । उद्धव ने भगवान से प्रार्थना की- हे भगवन्! मुक्तेक्रियायोग के बारे में बताइये जो आपके पूजा करने का विधान है। हे सात्वतश्रेष्ठ! सात्त्वत लोग जिस माध्यम से पूजा करते हैं यह मानवमात्र के निःश्रेयस् के लिए है, ऐसा नारद भगवान व्यास आचार्य अंगीरस के सुत अर्थात् आंगीरस आदि मुनियों ने कहा है। यह आपके मुख से निकला ऐसा ब्रह्मा ने कहा है जिसको उन्होने भृगु आदि पुत्रों के प्रदान किया। और भगवान शिव ने पार्वती के बताया। यह सब वर्णों के लिए और समस्तआश्रमों के लिए है। ओ मानन्द! यह स्त्री शूद्रों के लिए भी उत्तम श्रेयस् का साधन है। यहकर्म बन्ध के विमोचन का कारण है। मुझ अनुरक्त भक्त को विश्वेश्वर के ईश्वर आप बतायें। भगवान ने कहा– हे उद्धव! कर्मकाण्ड का पार नहीं है। मैं उसको कहता हूं सुनो। मेरा मख तीन प्रकार का है वैदिक तान्त्रिक और मिश्र। तीनों में से किसी भी प्रकार से मेरी पूजा की जा सकती है। क्यों कि यह शास्त्रतः और अनुष्ठानतः अनन्त है।

१ टीकाकार श्रीधर ने आध्याय का सार आरम्भश्लोक में दिया है – सप्तविंशे क्रियायोगः सद्यश्चित्तप्रसादकः। सर्वकामाप्तिहेतुश्च साङ्गः प्रोक्तः समासतः ।। रागाद्याकुलचित्तानां कुतोऽसंगादि सम्भवः। इति कृष्णार्चनं भद्रमनुस्मृत्यानुपृच्छति ।।२।। क्रियायोगमिति भगवदाराधन रूपम्।

मत्स्य पुराण

मत्स्यपुराण में ५२ वें अध्याय का आरम्भ कर्मयोग के लक्षण से किया है। मत्स्य पुराण में क्रियायोग और कर्मयोग को एक ही कहा है। इस कर्मयोग को विष्णु ने कहा है (यथौ विष्णुविभाषितम् ५) संवाद ऋषियों और सूत के बीच में हैं।

ज्ञानयोग से कर्मयोग श्रेयस्कर है (ज्ञानयोग सहस्रात् हि कर्मयोगः प्रशस्यते ५) ज्ञान बिना कर्म के प्राप्त नहीं होता ६ और ब्रह्म कर्म - ज्ञान दोनों के समुच्चय से प्राप्त होता है। कर्मशून्य व्यक्ति केलिए ज्ञान नहीं है। और परम तत्त्व को कर्म युक्त आत्मा ही प्राप्त कर सकती है। तस्मात्कर्मणि युक्तात्मा तत्त्वमाप्नोति शाश्वतम् वेदसार धर्म का मूल है और आचार वर्णाश्रम प्रयुक्त आचार) उसका उपकारक है। यह शायद एक प्रस्थान है जिसमें कर्मज्ञोग को ज्ञान के मुकाबले श्रेष्ठ बताया है। कर्म से रहित को ज्ञान नहीं हो

सकता। कर्मज्ञानसमुच्चय आवश्यक है। कर्मयुत आत्मा ही परम पद को प्राप्त कर सकती है।

दूसरा प्रस्थान :

अष्टौ आत्मगुणाः प्रक्ताः पुराणस्य तु कोविदैः।
अयमेव क्रियायोगो ज्ञानयोगस्य साधकः ॥११॥

पुराण शास्त्र के पण्डितों ने आत्मा के आठ गुण बताये हैं। ये आठ गुण आचार के प्रधान स्तम्भ है। ये आठ गुण हैं— १. सब भूतों पर दया २. क्षान्ति ३. आतुर की रक्षा ४. अनुसूया ५. अन्तः बहिः शौच ६. अनायासकार्यों को करना और मांगल्य ाचार सहित करना अर्थात् साहसिक कार्य न करना और जो भी करना मंगलाचार पूर्वक करना कार्पण्य न करना और परद्रव्य और परस्त्री में स्पृहा न करना।

तीसरा प्रस्थान

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममुपतिष्ठेत्प्रयत्नतः।

श्रुतियों में और स्मृतियों में जो धर्म लिखा है उसका पालन करना क्या लिखा है ? देवता पितृगण मनुष्य सारे भूत ऋषिगण इनकी यथायोग्य सेवा स्वाध्याय श्राद्ध यज्ञ अन्नदान तर्पण से। पञ्चयज्ञों का अनुष्ठान करे।

चौथा प्रस्थान

२२ और ८ जो संस्कार कहे गये हैं उनसे युक्त होने पर भी यदि आत्म गुण नहीं है तो श्रुति प्रयुक्त कर्म नहीं कर सकते। ब्रह्मा विष्णु अर्क रुद्र वसु इनकी पूजा करे। वासुदेव जगन्मूर्ति है। बाकी सब तो इनकी विभूति है।

ब्रह्मणा चाथ सूर्येण विष्णुनाथ शिवेन वा।
अभेदात्पूजितेन स्यात्पूजितं स चराचरम् ॥१६॥

ब्रह्मा सूर्य विष्णु और शिव इन चारों में अभेद मानता हुआ जो पूजा करता है उसने चराचर की पूजा करली है।

दान व्रत उपवास जप होमादि द्वारा ब्राह्मणों के आगे रखकर पूजा करे।

अन्तिम श्लोक इस प्रकार है –

इति क्रियायोगपरायणस्य वेदान्तशास्त्रस्मृतिवत्सलस्य।
विकर्मभीतस्य सदा न किञ्चित्प्राप्तव्यमस्तीह परे च लोके ॥१९॥

जो क्रियायोग परायण है वेदान्त शास्त्र और स्मृतियों का पालन करनेवाला है, दुष्कर्मों से भयभीत है उसके लिए इस लोक में या पर लोक में प्राप्तव्य कुछ नहीं है।

यह कर्म योग – क्रियायोग गीतोक्त योग प्रोक्त वैखानस सम्प्रदाय प्रोक्त क्रियायोग से पृथक् है। शायद भागवत प्रोक्त क्रियायोग वैखानस के अधिक समीप है। पर भागवत और मत्स्य दोनों में पञ्चायतन पूजा दी है।

मत्स्य के २५८ वें अध्याय में पुनः क्रियायोग का वर्णन प्राप्त है। यह वैखानस क्रियायोग के अधिक समीप है। इस अध्याय का नाम देवार्चानुकीर्तन है। इसमें ७५ श्लोक हैं।

प्रथम श्लोक —

क्रियायोगः कथं सिद्ध्येत गृहस्थादिषुसर्वदा।
ज्ञानयोगसहस्राद्धि कर्मयोगो विशिष्यते ॥१ ॥

मत्स्य अध्याय ५२ के पांचवें श्लोक का उत्तरार्द्ध हू बहू यही है।

विष्णु धर्म

विष्णुधर्म में अध्याय १-२ तथा ७६-८१ आठ अध्यायों में क्रियायोग का वर्णन है। वैसे सारा ग्रन्थ ही क्रियायोग है। प्रथम अध्याय का महत्त्व इसलिए भी अधिक है क्यों कि इसको लिखने लायक विशेष सम्प्रदाय समझकर अलबरूनी ने अपने ग्रन्थ किताबे हिन्द में सम्पूर्ण अध्याय ही अनुवाद रूप में प्रस्तुत किया है। अतः यह मानने का दृढ आधार है कि विष्णुधर्म का प्रथम अध्याय इतना लोक आदर प्राप्त था कि अलबरूनी ने उसका उल्लेख आवश्यक समझा।

एवमुक्तस्तदा ब्रह्मा क्रियायोगं महात्मनाम्।
तेषां ऋषीणामचष्टे नराणां हितकाम्यया ॥
आराधयन्ति विश्वेशं नारायणमतन्द्रिताः
बाह्यालम्बनसापेक्षास्तमजं जगतः पतिम्
इज्या पूज्या नमस्कारसुश्रूषाभिरहर्निशम्
व्रतोपवासैविविधैः ब्राह्मणानाञ्च तर्पणैः
तैस्तैश्चाभिमतैः कामैः ये च चेतसि तुष्टिदैः
अपरिच्छेद्यमाहात्म्यमाराधयत केशवम्।

बाह्यालम्बन सापेक्षा, इज्या पूजा नमस्कार सुश्रूषाभिः, व्रतोपवास विविधैः, ब्राह्मणानाञ्च तर्पणैः।

बाह्यालम्बन सम्भवतः पूजा की मूर्ति हो —

इज्या पूजा नमस्कार इन तीनों के अतिरिक्त भी कुछ होगा जिसको सेवा पद से कहा गया है या तीनों का नाम सेवा है या सम्भूय चित्तशुद्धि के लिए विविध व्रत उपवास और उनकी पूर्णता के लिए ब्राह्मण भोजन या ब्राह्मण - तर्पण दान का स्वतन्त्र कार्य हो पर भगवत् सेवा या क्रियायोग का अंश हो।

वैखानस सम्प्रदाय में अन्तर्याग और बहिर्याग इस प्रकार दो भेद किए गये हैं यज्ञ साक्षात् अग्नि में आहुति देना है और भगवान की पूजा बहिर्याग है। मानसिक पूजा को ही अन्तर्याग भी कहते हैं।

पुनः अध्याय ७९ में—

तत्राप्यसामर्थ्यवतः क्रियायोगो महात्मनः।
ब्रह्मणा यः समाख्यातस्तन्मना सततं भव ॥२९॥
करोषि यानि कर्माणि तानि देवे जगत्पतौ।
समर्पयस्व भद्रं ते ततः कर्म प्रहास्यसि ॥
क्षीणकर्मा महावाहो शुभाशुभविवर्जितः।
लयमभ्येति गोविन्दे कर्मणामथ चेत्फलम्
ततस्तमर्चयेशेशं ततः कर्मफलोदयः
योऽर्थमिच्छसि दैत्येन्द्र स समाराध्यकेशवम्
निस्संशयमवाप्नोसि धुंधुमारो यथा नृप।

यहां पर कर्म-कर्मसमर्पण- क्षीणकर्मा- शुभाशुवर्जित और गोविन्द में लय- तथा दूसरी प्रक्रिया।

कर्मफलभोग की इच्छा-तत्प्रयुक्त ईश की अर्चा- और फल प्राप्ति- जैसे नृप धुन्धुमार।

पुनःअध्याय ८० में –

क्रियायोगः त्वयापूर्वं ममोक्तः यः पितामह।
तमहं श्रोतुमिच्छामि फलं चास्य यथातथम् ॥
ब्रह्म ने कहा- क्रियायोग को।

इसका प्रत्युत्तर १. देवतायतन में देवता की पूजा। घर में की जाने वाली पूजा शायद काफी नहीं है या नित्यकर्म के अन्तर्भुक्त है। २. तन्मय होकर उस देवता का पूजन। शायद ध्यान योग से सीखा गया यहां काम आता है। ३. इससे मानस तल की उन्नति. ४. तप ५. ब्रह्मचर्य ६. स्वाध्याय (पुण्य) यह क्रियायोग कहा गया है।*

(*देवार्चा देवतागारे तन्मयत्वेन पूजनम्।
यथावच्चेतसः भूमिं करोति नियते हि सः ॥२॥
तपसा ब्रह्मचर्येण पुण्यस्वाध्यायसंस्तवैः।
क्रियायोगः स विद्वद्भिः योगिनां समुदाहृतः ॥३॥ वि.ध.१ अध्याय ८०)

यमराज ने अपने किंकरों को उपदोश दिया –

अनुशस्ताः किल पुरा यमेन यमकिंकराः।
पाशोद्यतायुधाः दैत्य- प्रजा संयमने रताः ॥

तुम पाश से युक्त हो और प्रजा और दैत्यों के संयमन में नियुक्त हो पर जो लोग केशव की पूजा करते हों, उनके पास न जाना, जो दान्त है, सत्यपरायण हैं, जो चलते खाते सोते और गिरते समय भी गोविन्द का स्मरण करते हैं, नित्य नैमित्तिक रूप से पूजा करते हैं, धूप, पुष्प, वस्त्र, सुन्दर आभूषणों से देव की पूजा करते हैं, जो देवालय का सम्मार्जन करते हैं, उपलेपन करते हैं और जिसने विष्णु का मन्दिर बनवाया है उनके पास न जाना।

यहाँ पर योग और क्रियायोग का भेद किया गया है –

प्रधानं कारणं योगः विमुक्तेर्दितिजेश्वर।
क्रियायोगश्च योगश्च परमं तात साधनम् ॥ वि.ध.८०.१५.

योग में क्रियायोग को जिसमें ईश्वर प्रणिधान भी है क्लेश के प्रतनूकरण का कारण हैं पर यहां परमगति का ही कारण माना गया है। क्रियायोग और योग दोनों ही परमसाधन हैं।

विष्णुधर्म १.१२ में

केनोपायेन मन्त्रैर्वा रहस्यैः परिचर्यया।
दानैर्व्रतोपवासैर्वा जप्यैर्होमैरथापि वा ॥

उसका उत्तर शौनक उवाच से १.५१. में दिया है।

एवमुक्तस्तदा ब्रह्मा क्रियायोगं महात्नाम्।
तेषां ऋषीणामाचष्टे नराणां हितकाम्यया॥

क्रियायोग विष्णुधर्म में जैसा उपस्थित किया गया है वह वैखानस सम्प्रदाय के क्रियायोग से बहुत मिलता है।

विष्णु पुराणमें भी —

क्लेशानां क्षयकरं योगादन्यन्न विद्यते। ६.७.२५.
यही योग सूत्र में भी कहा गया है॥
आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्म ध्यायिनं मुनिम्।
विकार्यमात्मनश्शक्त्या लोहमाकर्षको यथा॥ ६.७.३०.

क्यों कि वैष्णव सम्प्रदाय में जीव और ईश्वर का भेद मानते हैं अतः चुम्बक और लोहे की उपमा दी है। चुम्बक लोहे को खींचता है मिला नहीं देता।

विष्णुपुराण ६.७.३१. में योग की परिभाषा दी.है।
आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्याभिधीयते॥

आत्म ज्ञान के प्रयत्नभूत यमनियमादि की अपेक्षा रखने वाली जो मन की स्थिति गति है उसका ब्रह्मके साथ संयोग होना ही योग कहलाता है। अर्थात् यम नियमादिके अधीन जो विशिष्ट वृत्ति उसका संयोग ही योग है।

वृत्ति विशेष के बारे में विचार अद्वैत वेदान्त में भी किया गया है। चित्तवृत्ति अन्तः करण वृत्ति मनोवृत्ति उनके कार्य के बारे में विस्तार से विचार अन्यत्र किया गया है।

कठोपनिषद् में – विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नाम् २.३.१८ विद्या के साथ साथ योग विधिपद भी पढा गया है। अर्थात् योगविधि विद्या से अतिरिक्त है। अन्यत्र २.३.११ में – तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। यहां पर ज्ञान न करके स्थिर इन्द्रियधारण को योग कहा है। ज्ञान और ध्यान ऐसे दो प्रस्थान अलग हो गये।

योगशास्त्र में भी तत्त्वदर्शनोपायः योगः ऐसा कहा है। योग तो तत्त्वदर्शन का उपाय भर है। क्रियायोग अध्ययन ध्यानादिलक्षणः क्रियायोगः पाशुपतसूत्र ४१. क्रियायोग अध्ययन ध्यानादि का नाम है। पाञ्चरात्र में पूजा का परपर्याय हैं।

योग के दो भेद है १. क्रियायोग २. ज्ञान योग आत्मा के अतिथि ईश्वर आदि के ध्यान (प्रणिधान पूर्वक जहां स्थैर्य प्राप्त किया जाता है वह क्रियायोग है। २. तत्त्वनिदिध्यासन ही जहां किया जाता है वह ज्ञान योग है। भृगु प्रोक्तप्रकीर्णाधिकार में अध्याय ३५ में जिसमें ६०३ श्लोक हैं उस अध्याय का नाम ही क्रियायोग फलभुतिकथनम् है। सम्भवतः विष्णुधर्म पुराण में १०५ अध्यायों में जितने विषयों का समावेश है प्रायः वे सभी विषय इस अध्याय में निहित हैं। पातञ्जलयोग के क्रियायोग से इसका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। हां ईश्वर प्रणिधान से सम्बन्ध जोडा जा सकता है।

त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् में भी क्रियायोग योग का सन्दर्भ है–

ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः ॥२३॥
क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्रह्मणसत्तम।
अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनविषये क्वचित् ॥२४॥
यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्नुते।
कर्मकर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ॥२५॥
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते।
यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ॥२६॥
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शुभः।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेप्यव्ययं मनः ॥२७॥
स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा।

इस पर टीका —

क्रियायोगमित्यादि । किं तत्। अव्याकुलस्य इत्यादि। क्रियायोगस्य कथं द्वैविध्यं इत्यत्र कर्म कर्तव्यमित्यादि। ईश्वराराधनधिया निष्काम कर्मानुष्ठानाभिनिवेश एव कर्मयोग इत्यर्थः। श्रेयोमार्गास्वभिनिवेश एव ज्ञान योगः ॥२६॥

एवं उपायोपेयद्विविधयोगनुष्ठानतः श्रेयो भवति – यस्येति।

वैखानस और योग

वैखानस सम्प्रदाय में परम पुरुषार्थप्राप्ति के चार उपाय बताये हैं। तत्त्वदर्शन के चार साधन है। ये चारों पूजा मार्ग हैं चरित क्रिया ज्ञान और योग। मरीचि ने इन सब को तत्त्व ज्ञानोपदेश के अन्तर्गत पढा है।*

(*चरितक्रियाज्ञानयोगेषु चतुर्षु पूजामार्गेषुत्त भगवत्त्वज्ञानयोगं च श्रोतुमिच्छामि। मरीचिः विमैनार्चन कल्प पृ.४९१. योगेश्वराय विरजाय नमो वराय श्लोक. ४२.)

अध्याय का नाम तत्त्वज्ञानोपदेशविधि है।

१. पूजा करने का नाम चर्या है।

२. मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा क्रिया है।

३. परमात्मस्वरूप को जानने का नाम ज्ञान है।

४. देह को शुद्ध करने का नाम योग है।

योग की प्रशंसा सर्वत्र है। नागोजी भट्ट ने योग सूत्र १.१ भर अपनी टीका के आरम्भ में एक स्मृति वचन उद्धृत किया है– मुक्तिर्योगात्तथायोगात्सम्यग्ज्ञानं महीयते दक्षने भी—

यस्मिन् देशे वसेद्योगी ध्यायी योगविचक्षणः।
सोऽपि देशो भवेत्पूतो किं पुनः तस्य बान्धवाः॥ ७.४५.

जिस देश में योग का विचक्षण अर्थात् प्रवीण बसता है और ध्यान में अनवरत संलग्न योगी बसता है वह देश पवित्र है। उस योगी के बान्धवों का तो कहना ही क्या? अर्थात् इस योगी के प्रताप से वे सब बिना किसी प्रयत्न के कैवल्य प्राप्त करते हैं। भीष्मस्तवराज ४२ में भगवान को ही योगेश्वर कहा है। गीता में भी यत्र योगेश्वरः कृष्णः कहा है।

गीता में पुरानी याग परम्परा नष्ट हो गयी ऐसा कहा है।

योगो नष्टः परंतप और पुराने योग का ही अर्जुन को उपदेश देने की बात कही है।* (*स एवायं मया तेद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः गीता ४.३.) भागवत में भी कुछ ऐसा ही कहा गया है।* (*एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टो कालेन भूयसा भागवत ३.२४.३७) गीता छठे अध्याय में पुनः योग की बता कही है। * (*१६,१७,२३,३३ एवं ३६) परिभाषा बदली है।

पतञ्जलि योग के कर्ता नहीं सम्पादक है। अतः यह मानना पडेगा कि योग बहुत पुराना है। और अनेक प्रकार का है। गौतम ने भी बुद्ध होने के पूर्व योग का अभ्यास किया था। धराबद्धपद्मासनस्थांघ्रियष्टिः नियम्यानिलं न्यस्तनासाग्रदृष्टिः य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती स बुद्धः प्रबुद्धोस्ति निश्चिन्तवर्ती। यह श्लोक आचार्य शंकर कृत कहा जाता है और कुछ विद्वान इसको गौतम बुद्ध के लिए योगनिष्ठ होने की प्रशंसा

करते बताया ऐसा कहते हैं। शंकर ग्रन्थावली में प्राप्त है। और बाद में बुद्ध बने। आज भी बौद्ध मत में योग धर्म का प्रधान अंश है।

योग की आवश्यकता

मन आदि के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए योग आवश्यक है। अजितेन्द्रियों को भक्ति या ज्ञान का उदय नहीं होता।

हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
न सिद्ध्यति द्वयं तस्मादानिष्पत्तेः समभ्यसेत्।

राजयोग हठयोग के बिना और हठयोग बिना राजयोग के सिद्ध नहीं होते अतः निष्पत्ति होने तक अभ्यास करना चाहिए। अतः वैखानसों का योगमार्ग पर अधिक बल है।

चिन्मात्रवपु ईश्वर जो मायी है, माया को स्वरूप स्फुरण देने के कारण अधिष्ठान रूप से उपकारक है।

वैखानस और नाथ सम्प्रदाय

गोरखनाथ हठयोग के प्रमुख आचार्यों में अन्यतम थे। इसमें सन्देह नहीं। गोरखनाथी सम्प्रदाय के अनुसार कपिल इनके शिष्य थे। भारतीय चिन्तन - परम्परा सांख्ययोग को एक समन्वित सिद्धान्त मानती है। अतः सांख्य के प्रवक्ता कपिल की योगमार्गमें आस्था अवश्य होगी। *(*वरिम्णः सर्वयोगिनाम् - भागवत ३.२५.२.) अब गोरख के शिष्य कपिल और सांख्य प्रवक्ता कपिल एक ही हैं या पृथक् व्यक्ति इस विषय पर वर्तमान में कुछ कहना साहस मात्र होगा। हां वैखानस सम्प्रदाय में भी कपिल का नाम अत्यन्त आदार के साथ लिया जाता है।

वैखानस शरीर को कष्ट देनेवाले यति तितिक्षु थे। योग का भी उन्होंने अभ्यास किया। याग को भी नहीं छोडा। और अन्त में अर्चा में आस्थावान हुए। निश्चय ही ऐसे समय में उनका परम पुरुषार्थ के प्रति प्रयोग था जब कि शान्ति के मार्ग स्थिर न हुए होंगे। यह ऐतिहासिक तथ्य हो सकता है।

एक और विशेषता जो वैखानस और गोरखपन्थ को जोडती है वह है काम पराङ्मुखता। तिरुमल पर्वत पर स्त्री सम्भोग वर्जित है।* (*तिरुमल पर्वत का नाम संकेत

इसलिए किया गया है कि वेङ्कटेश्वर स्वामी मन्दिर के अर्चक होने के नाते वैखानसों का वर्चस्व यहीं सबसे अधिक है।) अर्चकों के लिए तो एकदम। देवस्थान भी अपने कर्मचारियों को प्रत्यह नैशविश्राम केलिए तिरुमल से तिरुपति भेज देते हैं – स्त्री सम्भोग पर्वतपर न हो इस मर्यादा के परिरक्षण के लिए जितेन्द्रियता जैसे नाथपन्थियों का अवश्य परिपालनीय आचार है वैसे ही वैखानसों के लिए भी। उभयत्र आश्रमोचित धर्म-निर्वाह अपेक्षित है। वानप्रस्थाश्रम में स्त्री सम्भोग वर्जित है और तज्जन्य पुत्र प्राप्ति से वंश पतित हो जाता है। संस्कार व वेदाधिकार से वञ्चित हो जाते हैं।)

गुरु मत्स्येन्द्र नाथ कामरूप देश में जाकर स्त्रियों के पाश में परवश हो गये। आज भी लोकगीत प्रसिद्ध है। - पूरब देस न जइयो बलमा। भारत के ही एक प्रदेश मेघालय में आज भी स्त्री राज्य है। सारा काम स्त्रियां ही करती है। सम्पत्ति पर भी उन्ही का अधिकार है। गुरु को रंगरेलियां मनाते सुन गोरख अपने साथ दो व्यकृयों के लेगये जिनका नाम लग और महालग था। यह लग पद तेलगा होगा। आसामी भाषा में तेलगा पदका अर्थ है नृशंस, कूर व्यकि जो हत्यादि जघन्य कार्य सम्पादन करने में तनिक भी संकोच नहीं करता। पाटव की बात अलग है। नरमासंभक्षी भी हो सकता है। ये तेलगा इसी तिरुमल पहाड के होंगे ऐसा अनुमान बाधित होने तक करने का अवसर है।

वैष्णव सन्तों में नाथ या नाथमुनिका बडा मान है। प्रसिद्ध आल्वारों में अन्यतम। नाथ- यह नाम ही बताता है कि नाथ पन्थ से उनका गहरा सम्बन्ध होगा नाथमुनि का तिरुमल से सम्बन्ध किसी से छिपा नहीं है।

योग के अनेक उपसम्प्रदाय बने। मैत्रायणी, कठ और श्वेताश्वतर तीनों हो कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित उपनिषत् हैं। इन्ही तीनों में सर्वप्रथम योग साधना का सांख्य तत्त्व से सम्बन्ध बताया है। यद्यापि सांख्यदर्शन का कोई प्रसंग नहीं है।

श्वेताश्वतर की भूमिका में ही शंकर ने अपने भाष्य में लिखा है - ईश्वरार्थ कर्मानुष्ठानेनापगतरागादिप्तलोऽनित्यादि दर्शनेनेहामुत्रार्थभोग विराग...

अयं तु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्

... .

जन्मान्तरसहस्त्रेषु यदा क्षीणास्तु किल्बिषाः
तदा पश्यन्ति योगेन संसारोच्छेदनं महत्

वैखानसने आत्मपरमात्मयोग को ही योग कहा है* (*जीवात्मपरमात्मनोर्योगो

योग इत्यामनन्ति। मरीचि- विमानीर्चन कल्प.पृ ५१०.) अर्थात् आत्मा परमात्मा इतर संसार की वस्तुओं गुणों से अस्पृष्ट। वैष्णवसम्प्रदायों में जीव और ईश्वर अलग कोटि के माने जाते हैं। उनमे गुण ऐश्वर्यादिसे सम्पृक्तता आती है जैसे इत्र की बोतल में एक बूद तेल गिर जाय तो तेल, इत्रके गुणों का, गन्ध और शायद स्वभाव को भी ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार यह आत्म-परमात्म मिलन है, जिससे आत्मा दिव्यगुणों से प्लुत हो जाती है। सारूप्य सम्पादन हो जाता है। यह मिलन ही संसार की अन्य वस्तुओं से अलग रखती है। सगुण हो जाते हैं, समानगुण वाले अनन्य नहीं। एक रस्सी में बंधने वाले। गुण का अर्थ रस्सी भी है। विष्णुसहस्रनाम में भगवान के नामों में योगः और योगविदां नेता इस प्रकार दो पद दिए हैं। गीता के हर अध्याय की पुष्पिका में योग कहा गया है और अन्तमे -योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् अर्थात् गीताग्रन्थ योग ही है। विपुल काय वसिष्ठ रामायण का नाम योग वासिष्ठ ही अधिक प्रचार में है- और कृष्ण को यत्र योगेश्वरः योगेश्वर कहा है।

शंकर ने विष्णुसहस्रनाम के योगो योगविदां नेता पर टीका करते हुए योग का अर्थ बताने के लिए एक श्लोक उपस्थित किया है-

ज्ञानेन्द्रियाणि सर्वाणि निरुध्य मनसा सह।
एकत्वभावना योगः क्षेत्रज्ञ परमात्मनोः ॥

इस से प्राप्य होने के कारण परमात्मा का नाम भी योग है। कूर्म पुराण ने विष्णु को योगत्मा कहा है-

स वासुदेवो विश्वत्मा योगात्मा पुरुषोत्तमः २२.७८। पर योगात्मा का क्या अर्थ है?

कूर्म पुराण ने एक महायोग की कल्पना की है-

यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मामेकं स महायोगो भाषितः परमेश्वरः*

(*योग सूत्र १.१७ पर नागोजीभट्ट द्वारा उद्धृत)

जहां केवल भगवद्दर्शन मात्र हो वह स्थिति महायोग स्थिति है।

योग दक्षिण की उपज है। प्राचीन उपनिषद मैत्रायणी श्वेताश्वतर और कठ इन तीनों में योग प्राप्त है है। ये तीनों कृष्ण यजुर्वेद के उपनिषत् हैं। कृष्ण यजुर्वेद दक्षिण

भारत में ही प्रचलन में है। अन्यत्र योग, लययोग, हठयोग और राजयोग प्राचीन काल से ही चले आ रहे भेद हैं। वैसे बाद में अनेक योगोपनिषत् प्रकाश में आये जैसे कि शाण्डिल्य, ध्यानबिन्दु, अमृतनाद, वराह, मण्डल, नादबिन्दु योगकुण्डली आदि। तेजोबिन्दु उपनिषत् ने पञ्चदशांग योग प्रस्तुत किया है.। यम, नियम, त्याग, दृकस्थिति, प्राण संयमन, प्रत्याहार, धारणा, मौन, एकान्त, आसन इत्यादि। आड्यारने ब्रह्मेन्द्र योगी की टीका के साथ योगोपनिषत् संग्रह प्रकाशित किया है।

मैत्रायणी उपनिषत् में योग के कई अंग दिये हैं- प्राणायमाम, प्रत्याहार, ध्यान धारणा, तर्क और समाधि* (*प्राणायामः प्रत्याहारः ध्यानं धारणा,तर्कः समाधिः षडंगः इत्युच्यते योगः मैत्रायणी ६.८) योगसूत्र २.२९ में यम, नियम, आसन, प्राणायमाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये जिये हैं। यम नियम आसन और तर्क पृथक् हैं। कठ ने स्थिर इन्द्रियधारण को योग कहा है।*

(*यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥ कठ.२.२.१०-११.)

मनुस्मृति

मनुस्मृति में भी प्राणायाम धारणा प्रत्याहार और ध्यान दिया है।* (*मनु ६.७०,७२,७३) सम्यक् दर्शन पद भी प्रयुक्त है।*(*६. ७४. मनु ७०,७२,७३) यह बौद्ध पद है।*(*बौद्ध सम्प्रदाय में अष्टाङ्गिक मार्ग कहा हैं। उस में तीन बर्ग हैं। ज्ञान शील और समाधि ज्ञानमें- सम्यक् दृष्टि सम्यक् संकल्प, शील में- सम्यक् कर्म सम्यक् जीवि का सम्यक् वचन और समाधि में सम्यक् स्मृति सम्यक् प्रयत्न और सम्यक् समाधि हैं।)

सम्यक् पद गीता में भी प्रयुक्त है। ५.४., ८.१०., ९.३०

भागवत

भागवत के तीसरे स्कन्ध के २८ लगाकर ३३ अध्याय तक योग दिया है। सबीज योग का २८,२९ में तथा भक्तियोग का में वर्णन है।

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः।
तयोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ॥ ३,२९.३५.

इस पर टीका करते हुए बंशीधर ने- भक्ति योग से मेरी चिद्घनश्री मूर्ति का साक्षात्कार होता है और अष्टांग योग से मेरे निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार होता है। शास्त्रों मे इनका अन्तर इस प्रकार बताया है।* (*भक्तियोगेन चिद्घन मदीय श्रीमूर्तिसाक्षात्कारः अष्टांगयोगे न च मन्निर्विशेषसारूप साक्षात्कारः इत्युभयोरपि मत्प्राप्ति साधनत्वेन शास्त्रेष्वुक्तेः। भागवत ३. २९.३५ पर वंशीधर की टीका)

अर्थात् साधारणयोग से भक्तियोग भिन्न हैं। योगवासिष्ठ में भी दो अलग अलग मार्ग माने हैं।

गीता

गीता में भी—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योपि मतोधिकः।
कार्मिभिश्चाधिको योगी तस्माद्योगीभवार्जुन॥ ६.४६.

(हे अर्जुन। तुम योगी बनो क्यों कि तपश्वियों से अधिक ज्ञानियों से अधिक कर्मियों से अधिक योगी हैं।)

गीता १५.५ पर टीका करते हुए शंकरानन्द ने वैदिक कर्म को ही योग कहा हैं पर फलाभिसन्धि रहित है, ईश्वर प्रीति के लिए किया गया हो क्यों कि यह मोक्षोपाय है अतः योग है।* (*फलाभिसन्धिवर्जितमीश्वरप्रीत्यै क्रियमाणं वैदिकं कर्म मोक्षो पायत्वात् योग इत्युच्यते गीता १५.५ पर शंकरानन्द की टाका) पुनः ८.१२ में (सर्वद्वाराणि संयम्य) योगी का लक्षण दिया है। रामानुज ने मनो निरुध्य योगाख्यां धारणामास्थितः कहा है पर शंकरानन्द ने तो पूरी प्रक्रिया ही दे डाली।

पुन ८.१० में प्रयुक्त योगबलेन, भक्त्यायुक्तो इस प्रकार दो सम्प्रदाय बताया हैं। इसी प्रकार भागवत ३.२९.३५ में भक्तियोगश्चयोगश्च दो पृथक् सम्प्रदायों का उल्लेख किया हैं। शंकर ने समाधिज संस्कारप्रचयजनित चित्तस्थैर्य लक्षण योगबलम्।

योग चित्तवृत्ति निरोध है। योग ने ऐसा कभी नहीं कहा कि चित्तवृत्ति निरोध ही मोक्ष हैं। हां शाखतिक चित्तलय हो सकता हैं। असंप्रज्ञात समाधि में ही चिद्रूप पुरुष मात्र रहता हैं। इसी को आत्म साक्षात्कार कहते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार नहीं। आत्म ही ब्रह्म है यह प्रस्थानान्तर हैं। पुनरुत्थान हीन चित्तलय होना चाहिए अभ्यास वैराग्य उसके मुख्य उपादान हैं।

श्रुतियों में ब्रह्म तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष का हेतु माना हैं। आत्मा ज्ञान को या जीवतत्त्व ज्ञानको स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का हेतु नहीं माना हैं। 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' योग सूत्र १.२३ पर टीका करते हुए नागोजी भट्ट ने- नन्वैश्वरस्य संप्रज्ञातस्य कुत स्तदनपेक्षत्वमिति चेन्न। श्रुतिवाक्यै र्ब्रह्मण आत्मता ज्ञाने तत्र प्रेमलक्षणभक्तितो जायमाना द्ब्रह्मात्मताचिन्तनरूपाद्वक्ष्यमाणात्मप्रणिधानादभिमुखीकृतईश्वरस्तं ध्यायिनमस्य समाधिमोक्षावासन्नतमौ भवेतामित्यभिध्यानमात्रेणासन्नतमा संप्रज्ञातसिद्धयानुगृह्णातीति भावः।

योग दो प्रकार का है क्रिया योग- ज्ञानयोग। वैसे मन्त्रयोगः लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा।

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तः योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

योगसूत्र के टीकाकार नागोजीभट्ट ने भक्तियोग को क्रियायोगा का अंग ही माना हैं।* (*तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। ईश्वरप्रणिधानरूपो भक्तियोगोप्यत्र क्रियायोग मध्य एव प्रवेशितः। योगसू६ २.१ पर नागाजीभट्ट।) शैव, वीरशैव, पाशुपत नकुलीश, प्रत्यभिज्ञा, भागवत, पाञ्चरात्र, वैखानस अनेक धार्मिक सम्प्रदाय जिन के पास अपना दार्शनिक नाथ और छोटेमोटे, वाङ्मय संस्कृत में नहीं हैं योग को अपने मत का प्रमुख अंग मानते हैं। कबीर पन्थ, दादू पन्थ, इत्यादि अनेक सम्प्रदाय इस कोटि में हैं। पर सबके द्वारा प्रयुक्त योग शब्द समानार्थक नहीं हैं। तथाच कुछ सम्प्रदाय किसी अंश विशेष पर अधिक महत्त्व स्थापित करते हैं। वैखानस का क्रियायोग परायण होने से ईश्वर प्रणिधान पर ही अधिक बल हैं। हां प्राणायाम आदि का अभ्यास करने को कहते हैं। पाञ्चरात्र भी क्रियायोग का प्रबल पक्षपाती हैं।

परिभाषा

गीता में समत्वं योग उच्यते २.४८ और योगः कर्मसु कौशलम्, २.५० कहा हैं। अन्यत्र भी योग की इतर परिभाषायें प्राप्त हैं।

मरीचि और योग सूत्र

निश्चय ही वैखानस का योग पातञ्जल योग नहीं है। योग सूत्र में २.२९ यमनियमासनप्राणायमप्रत्याहारधारणाध्यान समाधि ये आठ अंग हैं। मरीचि ने भी यही गिनाये हैं केवल ध्यान धारणा ऐसा क्रम परिवर्तन किया।

यम - अहिंसा सत्य आस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। २.३०.

मरीचि ने - अहिंसा सत्यमचौर्य गृहस्थस्य स्वदारनिरतिरन्येषां सर्वत्र मैथुनत्यागः दया आर्जवं क्षान्तिः धैर्यं मिताशनशौचमिति यमगुणाः दशधा भवन्ति।

पतञ्जलि ने पांच दिये हैं मरीचि ने दस। ब्रह्मचर्य के स्थान पर स्वदारनिरति कहा है। परिभाषा में मतैक्य नहीं है।

नियम - शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

मरीचि - नियमस्तु तपस्सन्तोषास्तिक्यदान विष्णुपूजा वेदार्थश्रवण कुत्सितकर्मसु लज्जा गुरूपदेशेश्रद्धा मन्त्राभ्यासे होम इति नियमगुणा दशधा भवन्ति।

आसन - सूत्र में आसन की परिभाषा दी है। स्थिर सुखमासनम् २.४६ टीकाकारों ने तीन से लगाकर ९ तक की संख्या दी है।

मरीचि - ब्राह्म स्वास्तिक पद्म गोमुख सिंहमुख वीरभद्र मयूर (नौ आसन) तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः।

प्राणायाम -

मरीचि - प्राणापानसमानयोगः प्राणायामः। रेचक पूरक कुम्भक इति। सच त्रिविधो भवति। निश्वासविसर्गो रेचकः। निश्वासोऽध्मानं पूरकः। निश्वासनिरोधः कुम्भक इति। रेचकसाधन प्रकार में मरीचि योग से भिन्न है।

प्रत्याहार - स्वविषयासंप्रयोगो चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः २.५४.

मरीचि - अथातः प्रत्याहारः पञ्चधा भवति। इन्द्रियाणां सर्वेभ्य विषयेभ्यः बलादाहरणम्। आत्मनि सर्वमात्मवदीक्षमाणं विहितकर्माणि बहिर्विना मनसा कृतम्। पादाङ्गुष्ठादिमूर्द्धान्तं अष्टादशमर्मस्थानेषु वायुमारोप्य धारयित्वा, स्थानात्स्थात् ऊर्ध्वतोऽधस्ताच्च समाकर्षणं नाडीमार्गेषु वायुमारोप्य निरोधनमिति। पृ.५१४.

इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों की ओर प्रवृत्त होने से रोकना।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार २.५४ ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्।२.५५.

धारणा - देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ३.१.

मरीचि - अथातो धारणानि अष्टधा भवन्ति। तेष्वात्मनि यमदमादिगुणयुक्त मनसःस्थितिःहृत्पद्मान्तराकाशे बाह्याकाशे धारणं च पृथिव्यादिमहाभूतेषु पञ्चसु देवानां पञ्चधारणानि। हृत्पद्ममध्ये परमात्मानन्दविग्रहधारण मिति। पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवी स्थानं तत्र लकार संयुक्तं वायुमारोप्य अनिरुद्ध मूर्तिं ध्यात्वा धारयेत्। जान्वोः पायुपर्यन्तं अपां स्थानं तत्र वकार संयुक्तं वायुमारोप्य अच्युतमूर्तिं ध्यात्वा धारयेत्। पायोर्हृदयान्तमग्निस्थानम्। तत्र रेफयुतं वायुमारोप्य सत्यमूर्ति ध्यात्वा धारयेत्। हृदयात् भ्रूमध्यान्तं वायुस्थानं तत्र यकारसंयुक्तं वायुमारोप्य पुरुषमूर्ति ध्यात्वा धारयेत्। आभ्रूमध्यान्मूर्द्धान्तं व्योम स्थानं तत्र हकार संयुक्तं वायुमारोप्य विष्णुमूर्तिं ध्यात्वा धारयेत्। एतेषां देवानां ध्यानस्वरूपं पूर्वं नाडीष्वकारसंयुक्तं वायुमारोप्य हृन्मध्ये प्रणवेन कार्यम्। स्वे स्वे संहृत्यकरणे प्रणवस्य नादान्ते परमानन्दविग्रहं परमात्मानं नारायणं शुद्धस्फटिकसंकाशं ध्यात्वा धारयेत्। एतां धारणां नियमादिसंयुक्तः नित्यं वा चरेत्।

योगसूत्र की टीका में नागोजी भट्ट ने दस स्थान बताये हैं।

प्राग् नाभ्यां हृदये चाथ तृतीये च तथोरसि कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दशकीर्तिताः।

ध्यान - तत्र प्रत्येकतानता ध्यानम् ३.२.

मरीचि - अथातोध्यानं वक्ष्ये। परमात्मनो जीवात्मना चिन्तनं ध्यानम्।

निष्कलं सकलमिति (तद्विविधम्)। निष्कलं देवैरप्यनभिलक्ष्यं अदृश्यं स्यात्। सकलं द्विविधम् – निर्गुणं सगुणं चेति। निर्गुणं निष्कलस्वभावः। परमात्मनोऽन्यन्न किञ्चिदस्तीति काष्ठोऽग्निरिव सर्वं व्याप्य आकारोपमः सर्वेषामात्मगुहायां निहितः अन्तर्बहिश्चसंस्थितः दृश्यादृश्य स्थूल सूक्ष्मः अमलोऽत्यच्छो अप्रमेयोनिरवयवो निरुद्योगो नित्योऽचिन्त्यो निष्कलः प्राणायामप्रत्याहार धारणादात्मसंस्कारं कृत्वा आत्मना पश्येत्।

ध्यान बौद्धमत में इतना प्रबल हुआ कि जापान में प्रचलित बौद्ध धर्म का नाम जेन या ध्यान सम्प्रदाय हो गया और चीन में चान (ध्यान) पांच प्रकार का माना है। मुण्डक ने —

न चक्षुसा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।। ३.१.८.

श्वेताश्वतर में भी –

ते ध्यानयोगानुगताऽपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कलात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।। १.३.

गीता में भी—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति १३.२४.

ध्यान पद का अर्थ।

मरीचि - मध्य देहान्मूर्धपर्यन्तं भ्रुवोर्मध्ये अन्तरात्मानं नारायणं सर्वजगत्कारणं अव्ययमव्यक्तमेकरूपं परं ज्योतिर्ज्वलति।

अवभासयति एकं निर्गुणं ध्यानम्। 'नारायणं परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः' इति श्रुतिः। तस्मात् प्रधानपरमोऽव्ययः विष्णुः सदाध्येयः।

निष्कलमेव प्राणायामैविकसितहृदयकमलान्तराकाशे वैश्वानरशिखामध्ये परंज्योतिर्ज्वालारूपवत् स्वयमेव पुरुषः कृष्णपिङ्गलः ऊर्ध्वरेता विरूपाक्षः विश्वरूपो परमानन्दविग्रहो भवेत्। तं परमया भक्त्या पश्येत्। तत्र सन्निहितो भवेत्। इति त्रिगुणध्यानं भवतीति विज्ञायते।

अथ सगुणध्यानं वक्ष्ये –

प्राणमपानेन संयोज्य तमनुप्रविश्य।

तत्र पुरुषं दृष्ट्वा पुनः पिङ्गलया आदित्यमण्डलमनुप्रविश्य तत्रस्थं पुरुषं दृष्ट्वा ततश्चेडया चन्द्रमण्डलमनुप्रविश्य तत्र मण्डलपुरुषं दृष्ट्वा ततो ज्वलिताग्निना कुण्डलीमुखज्वलनेन दग्ध्वा सुषुम्नया चोर्ध्वं गत्वा प्राणायामेन विकसितहृदयान्तराकाशे वैश्वानरशिखामध्ये चतुरस्त्रं हेमाभं विन्दुनासह यकारबीजान्वितं माहेन्द्रमण्डलं तन्मध्ये अर्धचन्द्राकृतिं श्वेतं बिन्दुना सह वकारबीजान्वितं वारुणं मण्डलं ध्यात्वा तन्मध्ये प्रणववेष्टितं सुवर्णाभमादिबीजं स्मृत्वा, प्रज्वलितज्योतिरूपमेव भक्त्या सकलं संकल्प देवीभूषणायुधैस्सह पारिषद्गणैस्सह कल्याणगुणनिधिं पूर्ववत् ध्यायेत्। एतद्गुण ध्यानमुत्तमम्। सर्वसिद्धिप्रदम्। सर्वत्रयोक्तव्यम्।

हृत्पद्मान्तरे वैश्वानर शिखामध्ये अग्नि (अर्क) मण्डलं पूर्ववत् ध्यात्वा तन्मध्ये परंज्योतिरेव सकलं संकल्प्य देवीभूषणायुधैः परिषद्गणैस्सहवृतं यज्ञमूर्तिं पूर्ववत् ध्यायेत्। अग्नि होत्रादि होमः तदपि सगुणध्यानम्।

हृत्पद्मे वैश्वानरशिखामध्ये अर्कमण्डलं पूर्वतत् ध्यात्वा पद्ममध्ये परं ज्योतिरेव सकलं संकल्प्य तरुणादित्यसंकाशं विष्णुं पूर्ववत् ध्यायेत्। एतत्सगुणध्यानं सर्वत्रप्रयोक्तत्यम्। सर्वसिद्धिप्रदम्।

हृदयकमलान्तराकाशे वैश्वानर शिखामध्ये सोममण्डलं पूर्ववत् ध्यात्वा तन्मध्ये परं ज्योतिरेव सकलं संकल्प्य शुद्धस्फटिकसंकाशं नारायणमूर्तिं ध्यायेत्। सगुणध्यानं सर्वसिद्धि प्रदम्। सर्वत्र प्रयोक्तव्यम्।

एवं सगुणध्यानं चतुर्विधं भवति। एतानि वैदिकध्यानमार्गाणि। अन्यान्यवैदिकानि सर्वाणि जघन्यानि। वैःषड्भिः प्रकारैः भगवन्तं नारायणं नित्यमभ्यसेत्। सर्वं समाधिना पश्यतीति विज्ञायते।* (*मरीचि विमानार्चनकल्प पृ.५१९.)

सजातीय वस्तुयें ही मिल सकती हैं अन्य नहीं जैसे पानी में दूध। जैसे को तैसो मिले मिले कीचमे कीच। घोंचू मे घोंचू मिले मिले नीच में नीच। (योगवासिष्ठ ३.१२१.७ में भी –

न सम्भवति सम्बन्धो विषमाणां निरन्तरः।
न परस्पर सम्बधाद्विनानुभवनं मिथः।

आत्मापरमात्मा कैसे मिल सकते हैं? और जब तक थोडा बहुत ज्ञान न होगा उस वस्तु का ध्यान कैसे हो सकता है? अतः ध्यान करने के लिए ईश्वर का सजातीय बनना पडेगा। ध्यान तभी सम्भव है। और जतुकाष्ठ सम्बन्ध यह सम्बन्ध नहीं है। यह तो पासपास रखना है, स्पन्द है।

समाधि

सम्यक् आधीयते अस्मिन् आत्मतत्त्वयाथात्म्यम्, निरुक्त।
परमात्मा के अतिरिक्त और किसी चीज की सुध न रहना समाधि है –

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशुन्यमेव समाधिः ३.३.
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात् निर्बीजः ९१५९.

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् २.४५.

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च २.२.

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजासिद्धयः ४.१.

मरीचि — अथातः समाधिं वक्ष्ये। जीवात्मनो परमात्मनः समावस्था समाधिः। यथानुष्णोपलमादित्यदर्शनादुष्णत्वमाश्रितमिव (तथा) परमात्मदर्शनात्प्रत्यगात्मा नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभावकपरमानन्दमयत्वं प्राप्य परमात्मानं नारायणं सदा पश्यत्यनुभवत्येव। अष्टांगयोगमार्गेण नित्यमणिमाद्यैश्वर्यञ्च प्राप्नोति जीन्मुक्तो भवेत्।

निर्वितर्कः जब पांच तन्मात्रायें केवल गुणों पर समाधान करती हैं तो निर्वितर्क समाधि होती है।

सवितर्क : वस्तुपर चित्त जब ध्यान उसके गुण और नाम का ध्यान करता है तो सवितर्क समाधि होती है।

योग सूत्र २.२९ ने यम नियमआसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि ये आठ अंग माने हैं।

मनु ने ६.६९ अह्नारात्रि श्लोक में प्राणायाम के विषय में कुछ कहा है। यदि अज्ञान से किसी प्राणी की हत्या हो जाय तो उस वैखानस को ६ प्राणायाम करना चाहिए। टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने प्राणायाम को खोलते हुए यह श्लोक दिया है –

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।

त्रिपठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥ वसिष्ठ

योग का प्रयोग शरीर शुद्धि केलिए प्रसिद्ध ही है पर मनु ने यहां मानसिक या नैतिक शुद्धि के लिए इसका विधान प्रस्तुत किया है।

पुनः मनु ने ४.७०. में प्राणायाम को ही परम तप कहा है। प्राणायाम केवल यति या वैखानस को ही करना चाहिए, ऐसा नहीं है। सारे ब्राह्मणों के लिए कहा है –

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।

व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥

टीकाकार ने योगि याज्ञवल्क्य का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए पूरक आदि का स्वरूप दिया है। शायद पूरक आदिकी परिभाषाओं में भी अन्तर हो।* (*प्राणापानौ

समौ कृत्वा ५.२७ भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् ८.१० प्राण अपान का समीकरण या भ्रूमध्य में प्रवेश योग प्रयुक्त प्रणाली नहीं है।)

कुल्लूक भट्ट का समय ११०० ई. के लगभग है। यह वह समय है जब भारत में राजनीतिक उथल पुथल के कारण सारी सामाजिक व्यवस्था टूट रही थी और असंख्य धार्मिक समुदाय पैदा हो रहे थे और योग जो कि भारतीय साधना का सर्वस्वीकृत उपादान है सभी धार्मिक समुदायों द्वारा स्वीकृत हो चुका था और यम नियमादि की परिभाषा में अपने अपने मत के अनुकूल क्षेपक प्रस्तुत कर रहे थे। इतना ही नहीं मनु को प्राणायाम की गुणवत्ता बताने के लिए दृष्टान्त देकर उसका सामर्थ्य समझाना पडा।

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु.६.७१.

जैसे अग्नि से धातुओं के मल जल जाते है वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों के, मनके दोष जल जाते हैं।

इन्द्रियों के दोष – जैसे नयनादि का सुन्दर वस्तु या सुन्दर स्त्री को देखने के लिए स्वयं प्रवृत्त होना। इस प्रवृत्ति का नियन्त्रण होता है। तथा मन का दूसरों का माल हडपने के लिए बार बार मन में आने वाले विचार। ऐसे संकल्पों का उदय स्वयं उपशमित हो जाता है।

निश्चय ही, यहाँ पर प्राणायाम योगदर्शन प्रयुक्त परिभाषा के अन्तर्भुक्त नहीं है पर सर्व साधारण रूप से स्वीकृत प्राणायाम है। अर्थात् एक मानसिक अभ्यास है जिसका किसी मत विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे स्वास्थ्य लाभ के लिए शारीरिक व्यायाम।

पुनः ६.७२ में —

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

रागादि दोषों के लिए तो प्राणायाम कहा पर क्रोध लोभ असूया आदि के लिए?

प्राणायाम से दोषों का दहन करे। दोष पदके अर्थ में परवर्ती काल में मल पद अधिक व्यवहार में आया।

धारणा से पाप का नाश प्रत्याहार से विषयों के सम्पर्क को दूर करे। ध्यान से

अनीश्वरगुणों का निवारण करे।

ध्यान - ब्रह्मादौ यन्मनसो धारणम्।

प्रत्याहार - विषयेभ्यः इन्द्रियनिवारणम्।

ध्यान - प्रत्ययप्रवाहरूपचिन्तन।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः।

ध्यानयोगेन स पश्येत् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ६.७४.

यहां पर ध्यान की परिभाषा नहीं दी है। हां, उसका प्रयोजन बताया है। जीव का उत्कृष्ट अपकृष्ट योनियों में जन्म का कारण शास्त्रों द्वारा अन्तःकरण का संस्कार न करना है। काम्य निषिद्ध कर्मों के कारण यह गति है ऐसा जानकर ब्रह्मनिष्ठ बने ।

इसके पश्चात् –

सम्यक् दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ६.७४.

ब्रह्मसाक्षात्कारशून्य व्यक्ति ही जन्ममरण के फन्दे में फंसता है इससे ध्यान क्या है इसका पता नहीं लगता परिभाषा पातञ्जल योग के अनुसार है या कोई अन्य।

अगले श्लोक ६.७५ में ब्रह्मदर्शन के सहकारी कारण प्रस्तुत किये गये हैं।

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।

तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्॥

अहिंसा, इन्द्रियासंग, वैदिककर्म और तपश्चरण योग सूत्र २/३० इस प्रकार है अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।

अहिंसा = उभयत्र

अस्तेय = मनुस्मृति में नहीं

सत्य = मनुस्मृति में नहीं

ब्रह्मचर्य = इन्द्रियासंग

अपरिग्रह = मनुमें नहीं

वैदिक कर्म और उग्रतपश्चरण

(पुनः ६.९२. में –

धृतिः क्षमा दयस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

यमों की परिगणना में जो मनु ने ६.७५ में छोड दिये थे उन्हें धर्म के दस लक्षणों में गिनाया है।

नियम -शौचसन्तोष तपः स्वध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः योगसूत्र २/३२ मनु ने चौथे अध्याय में यम नियमों के बारे में संकेत दिया है—

यमान् सेवेत् सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ ४.२०४.

यमों का पालन अवश्य करना चाहिये। नियमों के न करने से अधः पात होता है और नियमों के करने से ही फल मिलता (१०-१३) है। यह अध्याय गृहस्थधर्म के लिए है। यहीं पर चार श्लोक जोड दिए गये हैं। निश्चय ही ये चार श्लोक योग सूत्रों से नहीं मिलते। टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने मनु ४.२०४. पर टीका में याज्ञवल्क्य स्मृति ३.३१२-३१३ दो श्लोक उद्धृत किये हैं। योग सूत्र २/३० में पांच ही हैं। इसी प्रकार नियम (योग-सूत्र २/३२) में केवल पांच ही दिये हैं जब कि मनुस्मृति में (४.२०५ प्रक्षिप्त १२) दस दिये हैं। और टीकाकार ने – वेदमेवाभ्यसे न्नित्यम् ४.१४६ में प्रतिपादित ही नियम है ऐसा कहा है और मेधातिथि तथा गोविन्दराज का यही मत है ऐसा कहा है।

गीता और योग

समत्वं योग उच्यते ११.४८ का अर्थ सब प्राणियों में समस्थिति का परिपूर्ण ज्ञान अर्थात् सभी ईश्वर के अंश है ऐसा ज्ञान ही योग है ६.१७ में योगो भवति दुःखहा कहा है ६.२३ में सुख दुःख के अभाव को ही योग कहा है और योग को अवश्य करने के लिए कहा है।

सनिश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा। गीता के १६ वें अध्याय में दैवी सम्पत् और आसुरी सम्पत् का वर्णन है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं जना न विदुरासुराः
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ गीता.१६.७.

कर्मों में प्रवृत्ति या निवृत्ति के मर्म को नहीं जानते। कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विषय में ज्ञानशून्य हैं। निषिद्ध कर्मों को करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। बाह्य आभ्यन्तर शौच के सम्बन्ध में तनिक भी ज्ञान नहीं है। क्यों कि शास्त्र ज्ञान भी नहीं है और न सत्संग ही, अतः आचार भी शुद्ध नहीं है। आसुरी प्रकृतिवाले जन दया सत्य शौचाचार रहित हैं।

अभयं सत्त्वसंशुद्धि र्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेषु अलोलुपत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।३॥

अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञान योग व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, दया अलोलुपता, ह्रार्दव, ह्री और अचपलता, तेज, क्षमा धैर्य शौच, अद्रोह, अनुचित स्थान में गर्व

पातञ्जल योग में ५ यम और ५ नियम पढे गये हैं जिनका समावेश इनमें किया जा सकता है।

गीता का छठा अध्याय योग के वर्णन से भरा पडा है।

विष्णु पुराण ६.७.३१. में—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्य ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

जिसका ब्रह्म के साथ संयोग हो ऐसी आत्म प्रयत्न की अपेक्षा रखने वाली मन की विशिष्ट गति को योग कहते हैं।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन्॥ वि.पु. ६.७.३६.
स्वाध्यायशौचसन्तोष तपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः॥ वि.पु. ६.७.३७.
एते यमास्सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः।

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य अस्तेय और अपरिग्रह, स्वाध्याय, शौच, सन्तोष, तप और ब्रह्मलीन मन।

आत्म-प्रयत्न पर विष्णु पुराण ने अधिक बल दिया है। यम नियम आत्म प्रयत्न में सहायक होते हैं अतः इनका आलम्बन करना चाहिये। श्रीधर ने इस पर टीका करते हुए – आत्मनःप्रयत्नः यमनियमादिविषयः तत्सापेक्षा तदधीना विशिष्टा सत्त्वमयी

या मनसो वृत्तिः तस्याः ब्रह्मणि एव संयोगो योगः। यह चित्तवृत्ति निरोध की परिभाषा से पृथक् है। वृत्ति का निरोध नहीं वृत्ति का लीन होना योग है। विषयशून्य होना या विषय में एकाकार होना पृथक् पृथक् स्थितियां हैं। 'एव' पद ने लीन पथ का मार्ग बता दिया है ब्रह्म में ही हो, नहीं तो योग नहीं।

विष्णुपुराण ने —

विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाभिदग्धकर्मचयोऽचिरात्॥ ६.७.३५.
तथा योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जानो ह्यभिधीयते।
विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान्॥ ६.७.३३.

विनिष्पन्नसमाधिपद श्लोक ३३ एवं ३५ में उभयत्र समान है। दग्धकर्मचय योग से कैसे होता है यह साफ नहीं है। ३२ वें श्लोक में – एवमत्यन्तवैशिष्ट्ययुक्तधर्मोपक्षणः।

एक विशिष्ट धर्म लग जाता हैं। धर्म माने गुण या विशेषण। यह किसको लगता हैं? योग युक् प्रथमं योगी एक योगयुक् योगी होता है योगयुक् प्रारम्भावस्था है और विनिष्पन्नसमाधि चरमावस्था। तब चरमावस्था की अनुवर्ती या परवर्ती अवस्था में कर्मक्षय होता है अर्थात् कर्मक्षय अवस्था का नाम मोक्ष हैं। भाष्य में योग का अर्थ समाधि और स च सार्वमौमचित्तस्य धर्मः लिखा हैं।

कैवल्य पद २१, २५, ३१, ५० और ४१, ३४ साधनपाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद तीन स्थानों पर पठित हैं। केवल समाधिपाद में नहीं हैं।

भोजदेव वृत्ति में—

पातञ्जमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुं प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया॥ मंगल श्लोक ३.

क्या तब पुरुष का प्रकृति से अलग हो जानेका नाम योग हैं?

चित्त या बुद्धि का योग में प्रधान स्थान हैं। केवल ज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। चित्त और पुरुष के भेद को स्पष्टतया बताया हैं। उनका भेद समझ लेनाभट काफी नहीं हैं। बुद्धि या चित्त के संस्कारों का नाश आवश्यक हैं। चितिशक्ति वृत्ति सारुप्यता की निवृत्ति से आत्मसंवेदन शून्य हो जाती हैं।

संस्कार नाश के लिए ज्ञान मात्र काफी नहीं है असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ६.३६ अतः क्रमशः आध्यात्मिक प्रयत्न आवश्यक हैं। यह योग की प्रक्रियायें हैं यम नियम आसनादि। इन से सहकृत होने पर ही वृत्ति की संस्कारधर्मिता शिथिल क्षीण और क्रमशः लुप्त होती है।

मोक्ष

मोक्ष वासनाक्षय का नाम है। वासना का अर्थ नहीं दिया हैं। क्षय का क्या अर्थ हैं। क्या क्षयस्थिति का नाम मोक्ष है या मोक्ष क्षय के बाद की स्थिति है वह अपने आप आती है या उस स्थिति के लिए प्रयत्न करना पडता हैं ?

संसारबन्धनवासनान्मोक्षः तदपि समाराधनविशेषात् चतुर्विधपदावाप्तिः सालोक्यं सामीप्यं सारूप्यं सायुज्यमिति। आमोदप्राप्तिस्सालोक्यम्। प्रमोद प्राप्तिस्सामीप्यम्। संमोदप्राप्तिः सारूप्यम्। वैकुण्ठप्राप्तिः सायुज्यम्। तच्च नित्यानन्दममृतपानरसवत्सर्वदा तृप्तिकरं परमात्मनो नित्यनिषेवणं परं ज्योतिप्रवेशनम्। तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः इति श्रुतिः। भगवन्तं नान्यथा प्राप्नोति इति विज्ञायते।

इत्येव संसार समुद्रतरणोपायसाधनं ज्ञानयोगं ब्रह्मणा पुरा मम प्रणीतम्। ज्ञानोपदेशं गुरुशिष्यमार्गेण ज्ञात्वा पश्चात् परमात्मानं सदा पश्येत्। ग्रन्थोपसंहार पृ ५२० मरीचि विमानार्चन।

ज्ञानोपदेश तथा गुरुशिष्यमार्ग का क्या अर्थ है, इसका विवरण नहीं दिया। वैखानस सम्प्रदाय में दीक्षा नहीं है। अनुष्ठानादि में आचार्य वरण है। ज्ञान के लिए गुरु का चयन या वरण नहीं है।

ज्ञान = परमात्मानं सदा पश्येत्। पश्येत् क्रिया ज्ञानयोग चारों को पूजा मार्ग कहा है। भगवत्तत्त्व ज्ञानयोग का श्रवण है। अर्थात् भगवतत्त्व ज्ञान योग ही है। तत्त्वं नारायणः परः पृ.४९१ उसका अवगमन ज्ञान है। अवगमन अर्थात् जानना। परमात्मा= ज्ञेय, जीवात्मा = ज्ञाता, श्रुतियां ज्ञान हैं।

ब्रह्म का स्वभाव निष्कल सकल दो प्रकार का है। वह सदसद् है। ज्ञातृ ज्ञेय ज्ञान हीन निष्कल है।

जीव जीव ही है। जीव ईश्वर कैसे हो सकता है? जीव, जगत् और ईश्वर इस

प्रकार ये तीन तत्त्व हैं। एक दूसरे की कोटि में अतिक्रमण नहीं कर सकते। तब मोक्ष क्या है? जब जीव जीव ही रहता है तो मोक्ष के प्रति प्रयत्न क्यों?

जीव जीव ही रहा है पर उसमें ईश्वर के गुण आजाते हैं। अद्वैत के समान ब्रह्मात्मैक्य नहीं होता। अनन्य नहीं होता पर सगुण समान- गुणों वाला होता है। ईश्वर के गुणों का, सामर्थ्य का धारण करने वाला बनता है। क्या उनका (दैवी गुणों का) उपयोग भी कर सकता है? इस सन्दर्भ में ग्रन्थ मौन हैं। हाँ, मुनि, सिद्ध ऐसे पद प्रयोग में हैं। ये पद प्रस्थानान्तर के नहीं है ऐसा मान लेने पर भी मुक्त जीव ने भगवान के समान सामर्थ्य प्राप्त कर विश्वामित्र के समान नूतन सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं की। क्या निस्पृहता है? या सामर्थ्य का क्लीवत्व।

अष्टांग योग का सहारा जीवितावस्था में लिया गया है। क्या अणिमादि सिद्धियां काय शुद्धि में मात्र सीमिति हैं। यदि एकान्तिक भक्ति, जैसा कि क्रियायोग से सम्पन्न किया जा सकता है, तब अहैतुकी भक्ति क्या कर सकती है? तब योग और भक्ति दोनों की क्या आवश्यकता है? अष्टांग योग वैखानस योग से भिन्न है। यमनियमादि की संख्या दुगुनी से अधिक है। समाधि का स्वरूप अलग है। और मूलतः मोक्ष का स्वरूप भी। योग में पुरुष और प्रकृति के विच्छेद को मोक्ष कहते हैं तो वैखानस वासना-क्षय को ही मोक्ष कहते हैं। तब प्रकृति उपाधि से युक्त, उसका नाम विभूति हो या क्रिया-शक्ति जो काल कवलित हो सकती है श्री या भू की त्रिकालाबाधता कैसे प्रमाणित हो सकती है। वासना क्षय के लिए देहपात की क्या आवश्यकता है? मृत्यु तब दण्ड है या जीवन का एक पहलू। राजा को दण्ड देने का अधिकार है पर दण्ड का क्या तात्पर्य है ? शरीर को कष्ट ? आरोपित या उपचरित आत्मा की पात्रता क्या है?

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनाम्॥ भागवत ने ३.२९.२१.

क्या अर्चा तव विडम्बना मात्र है?

योग का एक और महत्त्वपूर्ण अवदान है वर्णव्यवस्था का अनादर।

हां द्विजों के लिए भी वर्ज्य नहीं है क्यों कि चित्त-मल का परिष्कारक होने में किसी को सन्देह नहीं है। द्विज - विद्यानिष्णात औपनिषदिक रहस्यों से प्रशस्त, यज्ञ प्रक्रिया को सप्रपञ्च आध्वर्य को सम्भालने में पूर्ण समर्थ भी योग की सहायता ले सकता

है। रेचक, पूरक और कुम्भक का अभ्यास कर सकता है। योग मार्ग द्विज, द्विजेतर शूद्र पञ्चम और पतित सबके लिए समान रूपसे उपकारी सिद्ध हो सकता है।

दूसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवदान है स्वप्रयत्न की श्रेष्ठता। अनुग्रह या कृपा का कोई स्थान नहीं। अनुग्रह प्राप्ति के प्रयत्नों का कोई काम नहीं। वर्ण व्यवस्था पराधीन नहीं। स्तोत्र या यज्ञ पूजा या तीर्थ किसी की आवश्यकता नहीं। योग शारीरिक प्रक्रिया है। गात्र प्रक्षालन के समान। कोई संस्कार विशेष की आवश्यकता नहीं। उपनयन या समावर्तन। अग्नित्रय या ऋण त्रय की कोई जिम्मेदारी नहीं। श्वास-प्रश्वास के नियमन के फल परिणति से परिचित होना काफी है। यह श्वास प्रश्वास प्रक्रिया देह के साथ उपजाती है और इसका उपचार देह के उपचार के समान हो सकता है। यदि शरीर को शारीरिक व्यायाम द्वारा पुष्ट और पीवर, दृढ और र्बाल बनाया जा सकता है तो इस क्रिया को क्यों नहीं।

क्रम मुक्ति की शालीय व्यवस्था। शूद्र वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण क्रमशः जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा यदि उसी परमात्मा का अंश है अनन्य रूप से या सजातीय रूप से तो मानव और पशु की आत्मा में सम्बन्ध भेद से आत्मा का वस्तु भेद नहीं हो सकता यदि गजराज को साक्षात् मुक्ति मिल सकती है यदि आञ्जनेय केसाथी वानर प्रवर मुक्त हो सकते हैं तो नर क्यों नहीं? पतित भी तो ब्राह्मण या द्विज ही है। हां स्वाध्याय का अधिकरा खो दिया तो क्या? उनहोंने समाज का नियम तोडा है ईश्वर का नहीं। जब ईश्वर ने स्त्री पुरुष की सृष्टि की है, परस्पर आकर्षण को मानव स्वभाव बनाया है तो निश्चय ही उसको काम करने देने चाहिए। ईश्वरीय व्यवस्था मानव व्यवस्था से बलवत्तर है। अतः अग्र पालीनयता है।

वर्ण व्यवस्था का मोक्ष प्राप्ति प्रयत्नों पर कोई प्रभाव नहीं है। यदि ईश्वर ही बीजप्रदः पिता है तो उसके लिए सब समान हैं। ज्येष्ठ कनिष्ठ तो समय की मर्यादा में लक्षित है; जो काल की मर्यादा से अस्पृष्ट है उसके सामने काल विशिष्ट गुणों की क्रमोत्तरता क्यों कर कारगर होगी। समाजिक व्यवस्था में भी सुदूर रहने वाला पुत्र, पुत्रत्व से च्युत नहीं होता। रिक्थ में ज्येष्ठ-कनिष्ठ का समान हक है तब मुखज और पादज में भेद क्यों? जब देश-काल का भेद सांसारिक कृत्यों के लिये सारहीन है, प्रयोजन शून्य है तो आध्यात्मिक स्तर पर उसे लादना हठ मात्र होगा।

योग ने संसार को मिथ्या नहीं कहा। संसार के उत्तरदायित्व से पलायन वाद का पोषण नहीं किया। पुरुष और प्रकृति दोनों हैं। दोनों का ज्ञान ही मोक्ष है। संसार में रहकर भी मोक्ष पाया जा सकता है। हठयोग ने अवश्य स्त्रैण - पराङ्मुखता को प्राथमिकता दी है पर गोरखनाथ का स्वयं कामनियमों के प्रेम-पाश में बंध जाना – उठ, जाग मच्छिन्दर आया का घोष इस घृणा की व्यर्थता का डिण्डिम घोष करता है। वीर्य संरक्षण प्रयत्न अणिमादि सिद्धियों के सम्पादन में शायद उपकारक हो। आध्यात्म क्षेत्र में उनकी उपयोगिता सन्देहजनक है।

वैखानस शास्त्र ब्रह्मा की देन है वैसे ही योग भी। नागोजी भट्ट ने अपनी टीका में लिखा है (योगसूत्र १.१)

अनेन हिरण्यगर्भाद्युपदिष्टस्यैव योगस्य विविच्य बोधनम् तब वैखानस और योगशास्त्र दोनों ब्रह्मोपदिष्ट हैं। अवश्य इनका सम्बन्ध है।

स क्रियायोगी निष्कामबुद्ध्याऽऽसेव्यमानः कर्मातिरिक्तविषयेभ्यो निरुद्धवृत्तिकं सत्वोद्रेकादेकाग्रं च चित्तं च कुर्वन् समाधिमुत्पादयति। अविद्यादिक्लेशांश्च सत्त्वशुद्धि द्वारा अनायासेन तनू करोति शुष्केन्धनतुल्यान् करोति

... ...

एवं च क्रियायोगों ज्ञानादिसाधनमेव न साक्षान्मोक्षहेतुरिति सिद्धान्तः। योगसूत्र २२ पर नागोजी भट्ट की टीका पृ. २६५.

अवस्तुवाचकाच्छब्दात् प्रत्ययो बुद्धिनिर्मितः
यावद् भाषानुगा चिन्ता व्यवहार्यो विकल्पकः॥ योगकारिका.२७.

अवस्तु वाचक शब्दों को सुनकर जो बुद्धि का निर्माण होता है - शब्द अभाव, अनन्त चैतन्य पुरुष का स्वरूप है - इसका वास्तव विषय नहीं है, यह तथापि विपर्ययज्ञान मिथ्याज्ञानस्वरूपिका वृत्तिः विपरीतज्ञानं न ज्ञानाभावः।

अध्याय दस

उपसंहार

पिछले ९ अध्यायों में वैखानस सम्प्रदाय की उत्पत्ति विकास धर्म दर्शन प्रतिष्ठापक आचार्यों की जीवनी आदि से परिचित कराया गया है।

उपसंहार अध्याय में समस्त अध्यायों का एक विहगावलोकन तथा अनेक विचार जो वैखानस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये हैं उनको संक्षिप्त रूप से सार रूप से यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैखानस सम्प्रदाय है या तृतीयाश्रम इस पर निश्चित मत प्राप्त नहीं है। तब चाहे तो वैखानस तृतीय आश्रम का पर्याय हो या एक सम्प्रदाय विशेष हो उभयत्र नैतिक आचरण पर विशेष बल दिया है। काम्य कर्मों को त्याज्य और हेय कहा है। आचरण की एक कठोर संहिता बनाई।

भगवान कहीं ऊपर बसते हैं। मानव मात्र की पहुंच के बाहर है इस प्रकार की धारणा को असंगत बता कर अर्चावतार की कल्पना की। मानव को यहीं अभी दैवस्वरूप का दर्शन का अवसर प्रदान किया। पूजा - उत्सव विधि प्रतिष्ठित की। उसके लिए विस्तार से पूजा - कल्प का निर्माण किया।

परमुखापेक्षी यज्ञ के स्थान स्वप्रयत्न द्वारा साध्य अर्चा पद्धति की सहज स्वीकार्यता प्रदान कर जन साधारण में स्वस्थित दैवांश की सत्ता का विश्वास दृढ किया।

भगवान शून्य नहीं है। भक्तों की पुकार सुनता हैं। जैसे माता पिता अपने विकलांग बच्चों की अधिक देख भाल करते वैसे ही परम पिता परमेश्वर भी अपने भक्तों की स्वयं देख भाल करते हैं। किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं। वेदाध्ययन मन्त्र-तन्त्र सामर्थ्य उच्चकुल में जन्म ये सब अनावश्यक है। इस प्रकार साधारण जन जीवन में एक आध्यात्म स्पन्दन की लहर दौडा दी। न केवल तुम ईश्वर के प्रति दृढा भक्ति प्रदर्शित करो बल्कि भगवान भी तुम्हें प्यार करता है ऐसा विश्वास लोगों में पैदा किया।

भगवान मानव के परम प्राप्तव्य के प्रति सदा सहायक होता है। मानव का उद्धार उसका व्रत है प्रतिज्ञावचन है।

पुजारी या अर्चक द्वारा देवता के सान्निध्य की कारणता का तिरस्कार किया। केवल सच्चे हृदय से भगवान का ध्यान करो। सद्यः ईश्वर दर्शन तुम्हारे सत्वांश को प्रखर करेंगें। ऐसा समस्त जनों में एक विश्वास पैदा किया। मानव को एक दृढता दी। पुरुष प्रयत्न की एक नयी दिशा का मार्ग प्रशस्त किया।

यज्ञ प्रक्रिया एक जादू है। ऋत्विक् कुछ मन्त्र पढकर हुँ फट् करता है अग्नि में आज्याहुति का प्रक्षेप करता है और वाञ्छित फल सामने आ जाता है। चाहे पुत्रेष्टि हो या स्वर्गकाम हो। पर उसका त्रुटि राहित्य होना ब्राह्मण पुरोहित के हाथ है। यहां पर यजमान परवश है। वह स्वयं यज्ञ प्रक्रिया को त्रुटि रहित नहीं बना सकता। पर पूजा विधि ने इस प्रकार के संशय का उच्छेद ही कर दिया। बस सफलता निश्चय है। संशय का अवकाश ही लुप्त कर दिया। सफलता अवश्य मिलेगी। इस प्रति व्यक्तिके हृदय में उदित अवश्यंभाविता ने व्यक्ति के आत्म - गौरव को दृढ किया विश्वास को परिमार्जित किया। भगवान मेरी रक्षा करेगा ऐसी एक नई चेतना भर दी। पुरुष का बन्धन स्वाभाविक नहीं है। उससे मुक्त हुआ जा सकता है। प्रायश्चित्त की अनेक कोटियां बता कर पापापनोद को सुकर कर दिया। भगवान पाप दूर करेंगे। बस, तुम्हारे प्रयत्न करने की आवश्यकता है। तुम्हारा कल्याण करना परमात्मा का काम है। योगक्षेमं वहाम्यहम् गीता वाक्य ने एक अदम्य साहस भर दिया। भगवान की दृष्टि में तुम भी एक उन्हीं की सन्तान हो यह जागरूकता भर दी। वह रक्षा करेगा। भगवान के दरबार में तुम्हारा भी स्थान है और देर सबेर तुम्हारा क्रम भी आयेगा।

निष्काम कर्म करो। 'तवास्मीति' यह प्रमाणित करो। सारा अहं भुला दो। स्वार्थ को त्याग दो। अपने आपको भूल जाओ। वही जन्म देनेवाला है। परमपद भी वही देगा। मानव की सेवा भी माधव की सेवा है। भगवान स्वयं उत्सव के समय घर घर जाकर अशक्य को आत्मोन्नति का अवकाश देते हैं। और पूजा के साथ साथ उत्सव ने भगवान भक्त के लिए सुलभतर होगये हैं वे भक्तों की स्वयं परवाह करते हैं उनके योगक्षेम का दायित्व निभाते हैं ऐसा विश्वास साधारण मानव में भरदिया।

'अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' गीता१८.६६

नैतिक आचार सबमें समान होना चाहिए। योग से देहशुद्धि ध्यान से मनश्शुद्धि भक्ति पूर्वक चन्तन से आत्मशुद्धि। यह सब के लिए समान हैं। इसमें वर्ण का पचडा नहीं हैं। मोक्षमें सबका अधिकार हैं। नैतिक आचरण की समता सब को समान बनाती हैं। गरीवों को प्रसाद वितरण से समानता का विश्वास दृढ हो गया। वैखानस बैद्य भी होते थे। अनेक परिवारो में आज भी यह पारम्परिक वृत्ति है। गरीबों को भगवान के मन्दिर में दवा का प्रबन्ध भी हुआ एक और समानता भगवत्कृपा का पुष्ट प्रमाण उपस्थित किया। आज की भाषा में इसे समाज सेवा भी कह सकते हैं। पर वास्तव में भगवत्कैंकर्य के लिए व्यक्ति सामर्थ्य का लोप न हो इस दिशा में प्रयत्न हैं।

क्यों कि मन्दिर हर गांव शहर में हैं अतः अधिक से अधिक लोगों को प्रसाद और औषधने देह दार्ढ्य स्थिर किया। व्यक्ति का काम करने का सामर्थ्य बढा। इसी के अनुरूप मन्दिर में सेवा करने के अवकाश भी। भगवदनुग्रह से देह और देही दोनों की देखभाल होती है यह विश्वास पनपा देखिये।

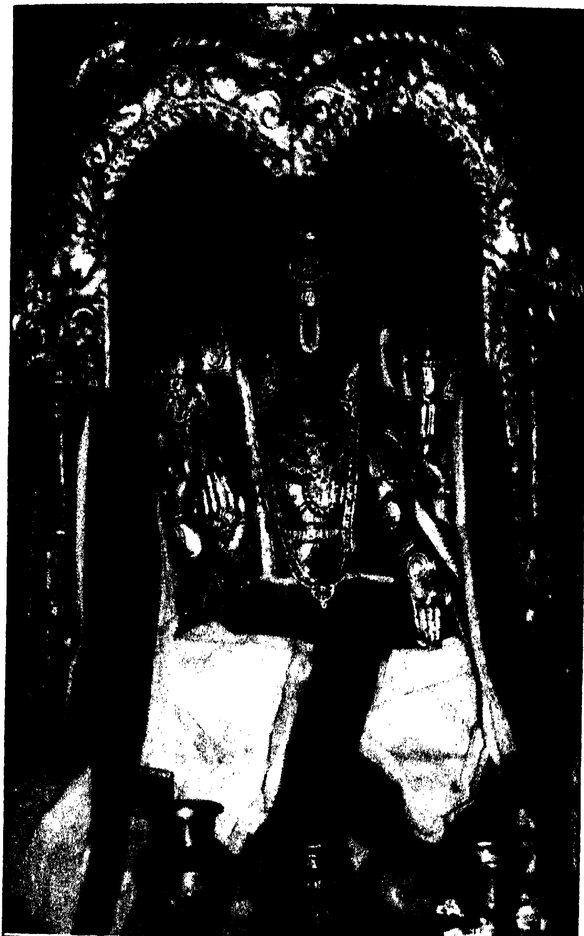
दान की नई परिपाटी ही चला दी। पहिले ब्राह्मणों को दान देते थे। वैखानसों ने दान व्यक्ति को न देकर मन्दिर को देने की प्रथा काश्रीगणेश किया। जब राजे महाराजे दान देने लगे तो मन्दिरका स्वरूप ही बदल गया। बडी बडी जायदादों ने भूमि, भूमि की उपज, उपज का संरक्षण, उसका विनियोग, उपज के लिए आवश्यक उपकरण और सेवायें मजदूर लोहार बढई बैल बैलों को लिए चारा गाय और बछडे उनका प्रबन्ध इस प्रकार के हजारों शुद्धधर्म से इतर कार्य भी मन्दिरों से जुड गये। राज्य की दृष्टि में ये सब लौकिक कार्य मन्दिरों से जुड गये। राज्य की हष्टि में ये सब कार्य लौकिक या धर्मेतर हो सकते हैं मन्दिर निर्माण मूर्तिनिर्माण प्रतिष्ठा पूजा उत्सव निर्वहमे पर कर्मचारियों केलिए तो ये सारे लौकिक कृत्य भी धार्मिक कृत्य ही थे। प्रधान पुजारी की देख रेख में ये कार्य होते अतः लौकिक कृत्य भी धर्मिक कृत्य के रूप में परिगणित होने लगो। धार्मिक क्षेत्रका विस्तार हुआ। मन्दिर के लौकिक कार्य अतिसफलता पूर्वक होते क्यों कि कारीगर मजदूर इसको धर्मका कार्य समझ कर बडे मनोयोग से करते। इस प्रकार वैखानसों ने न केवल मन्दिर निर्माण मूर्तिनिर्माण प्रतिष्ठा पूजा उत्सव

निर्वहमे अपनी योग्यता प्रदर्शित की वरन् लौकिक कार्यो में भी की अतः राज्य कार्यो में इनके नैपुण्य के कारण इन की नियुक्ति होने लगी।

अनेक शिलालेख इस बात के प्रमाण हैं कि न केवल देवकार्य और मन्दिरों में वैखानसों की नियुक्ति होती वरन् राजकाज में उनकी कार्यकुशलता के कारण नियुक्ति होती। और एक बार राज काज का चस्का लगा तो वैखानस समाज के योग्य बुद्धिमान मन्दिर की सेवा से हट कर राज सेवासक्त हो गया। गुणोपि दोषाय कल्पते की उक्ति सार्थक हुई। धर्म के क्षेत्र में योग्य विद्वानों के न आने से समसामयिक रूप से उभरती धार्मिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान वैखानस दृष्टि से चिन्तन करके कोई हल प्रस्तुत करने का काम न हुआ। एतावता धर्म की बहुत हानि हुई। वेदान्त देशिक या व्यासराय जैसा एक भी विद्वान वैखानस समाज पैदा न कर सका। कृष्ण देवराय के दरबार में ही धार्मिक सदस में वल्लभाचार्य ने आकर सब को परास्त कर दिया और वैखानस कुछ न कर सके जबकि कृष्ण देवराय तिरुमल के प्रबल पोषक भक्त थे। वैखानसों के हिमायती। राजसेवा सक्त होने के कारण जीवन शैली में जो परिवर्तन आया वह फिर वापिस न हो सका आरामकी जिन्दगी के अभ्यस्त पुराने कष्टमय जीवन को न अपना सके। और परिणाम उभयतः भ्रष्ट हो गये न राज सेवा में ही आगे बढ सके न धर्म क्षेत्र में।

निश्चय ही सब के लिए मोक्ष का द्वार खोलकर सामान्य और पिछडे जातियों का समादर प्राप्त किया और कार्य करने की कुशलता के कारण राज्य सेवा का गौरव भी प्राप्त किया पुराने सम्प्रदाय होने के कारण संस्कृत से अपना नाता न तोडा पर यह सब वर्तमान में वैखानस सम्प्रदाय की अभ्युन्नति में सहायक न हो सके। वैखानस विश्वास और वैखानस विचार ने अपने आपको प्राचीन भारतीय सम्प्रदाय के साथ जोडे रखा स्मृतियों को, योग को अपनाया पर विद्वानों के अभाव में अपनी प्राचीन परम्परा का प्रजाजनों में प्रख्यापन न कर सके और अलग थलग पड गये। पुरातन सम्प्रदाय की राष्ट्रीय गौरव गाथा से ऐसे चिपके रहे कि वर्तमान समय की साथ चलना भूल गये। बदलती राजनीति, बदलते संस्कृति के आयाम जो पहिले धर्म के ही अंग थे वैखानस न समझ सके।

आज कुछ प्रबुद्ध लोगों की इस ओर दृष्टि गयी है। पर आज आवश्यकतायें पहले से अधिक जटिल हो गयी हैं। विश्व एकनीड हो गया है। मानव गरुड गति से चल सकता है। मुद्रण की सुविधा ने अनेक प्रकार के विचारों का सुलभतया सर्वत्र प्राप्त होने का अवकाश बढा दिया है। एक दूसरे के विचारों को समझने का प्रयास विशाल स्तर पर अनेक सम्प्रदाय कर रहे हैं। तुलनात्मक - धर्म अब प्राच्य - पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में अध्ययन का विषय बन गया है। अतः व्यक्तिगत पाण्डित्य की अपेक्षा अब संस्थागत वैदुष्य की आवश्यकता अधिक है।



भगवान् श्री विखनो मुनिः

श्री भू समेत वेंकटेश्वर (श्री बालाजी) मन्दिर

नैमिषारण्य - 261402, सीतापुर जिला, उ.प्र.